खंड III

अर्थव्यवस्था और समाज

समय रेखा

भू-राजस्व

ग्रामीण समाज

व्यापार

तकनीकी

नगरीकरण

कारवां सराय, **मांडू**

फोटोग्राफ एवं साभारः ज़ीशान (वीकी), सितम्बर, 2012

स्रोतः https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/2/29/Caravan_Sarai.JPG

इकाई 10 भू-राजस्व*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 *खालिसा*

10.3 दिल्ली सुल्तानों के अधीन भू-राजस्व और उसकी वसूली

10.3.1 अलाउद्दीन खलजी की कृषि नीति

10.3.2 मुहम्मद तुगलक की कृषि नीति

10.3.3 अलाउद्दीन खलजी का बाज़ार नियंत्रण

10.4 दिल्ली सुल्तानों का राजस्व प्रशासन

10.5 मुगल कालीन भू-राजस्व व्यवस्था

10.5.1 भू-राजस्व निर्धारण प्रणाली

10.5.2 भू-राजस्व मांग का परिमाण

10.5.3 भुगतान का माध्यम

10.5.4 भू-राजस्व वसूली

10.6 राजस्व में राहत रियायतें

10.7 मुगलों का भू-राजस्व प्रशासन

10.8 दिल्ली सुल्तानों की मुद्रा प्रणाली

10.9 मुगलों की मुद्रा व्यवस्था

10.9.1 मुद्रा प्रणाली

10.9.2 मुद्रा ढ़लाई प्रणाली

10.10 सारांश

10.11 शब्दावली

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.13 संदर्भ ग्रंथ

10.14 शैक्षणिक वीडियो

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में गौर विजय के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण किया गया है तथा सल्तनत काल में अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस इकाई में हम मुगल कालीन भू-राजस्व व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण आयामों पर विचार करेंगे।

***प्रो. शीरीन मूसवी, सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडीज इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. सुनीता ज़ैदी, डिपार्टमेंट ऑफ हिस्ट्री एंड कल्चर, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; डॉ. किरण दत्तार जानकी देवी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, और प्रो. ए. आर. खान, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी नेशलन ओपन यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली।**

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ईएचआई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 5, इकाई 16; खंड 6, इकाई 19; और ईएचआई-04: *भारतः 16वीं शताब्दी से मध्य 18वीं शताब्दी तक*, खंड 5, इकाई 16 और 20 से ली गई है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगेः

- दिल्ली सुल्तानों के अधीन भू-राजस्व की प्रकृति और उसकी वसूली की प्रणालियाँ,
- दिल्ली सुल्तानों के अधीन राजस्व स्रोतों के वितरण की पद्धति,
- अलाउद्दीन खलजी के मूल्य नियंत्रण संबंधी उपाय,
- मुगलों के अधीन राजस्व निर्धारण की विधि,
- मुगलों के अधीन भू-राजस्व मांग के परिमाण,
- मुगलों के भू-राजस्व वसूल करने के माध्यम,
- मुगलों के भू-राजस्व वसूल करने के विभिन्न तरीकों,
- मुगल के संकट की स्थिति में किसानों को दी जाने वाली राहतों-रियायतों,
- मुगल भू-राजस्व व्यवस्था में संलग्न विभिन्न पदाधिकारियों के अधिकारों और कर्तव्यों,
- सल्तनत तथा मुगल अर्थव्यवस्था में मुद्रा के बढ़ते प्रयोग और मुद्रा प्रणाली, और
- मुगल टकसालों की कार्यप्रणाली।

10.1 प्रस्तावना

गौर शासकों की उत्तर भारत पर विजय और दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तनों के साथ ही आर्थिक परिवर्तन भी हुए। विजेताओं की कर वसूली एवं वितरण और मुद्रा प्रणाली संबंधी सुस्पष्ट धारणाएँ एवं कार्य प्रणालियाँ थीं। परन्तु तत्कालीन व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से तत्काल परिवर्तित करना संभव नहीं था। प्रारंभ में नई धारणाओं को पुरानी व्यवस्थाओं पर अध्यारोपित किया गया, और कालांतर में 15वीं शताबदी के अंत तक विभिन्न सुल्तानों द्वारा इनमें संशोधन कर परिवर्तन किए गए।

मोहम्मद हबीब के अनुसार, दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप हुए आर्थिक परिवर्तनों ने एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया जो इससे पूर्व की व्यवस्था से अधिक श्रेष्ठ थी। उनके अनुसार, परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण थे कि उन्हें 'नगरीय क्रान्ति' और 'ग्रामीण क्रान्ति' के द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है। डी. डी. कोसाम्बी ने 'नई तकनीकी को ग्रहण कर उसे प्रसारित करने की दुर्बल मनोवृत्ति' को 'मुस्लिम आक्रामकों' द्वारा तोड़ने का श्रेय तो दिया, परन्तु उन्होंने परिवर्तनों को भारतीय 'सामन्तवाद' में पहले से उपस्थित सशक्त रूप से प्रभावी तत्वों से अधिक नहीं पाया।

भूमि कर अथवा *खराज* देने से इंकार करने वाले क्षेत्रों को *मवास* कहा जाता था, जिन्हें लूटा जाता था अथवा सैनिक कार्यवाहियों द्वारा कर देने के लिए बाध्य किया जाता था। धीरे-धीरे एक साथ राजस्व वसूली और वितरण की कार्य प्रणाली स्थापित किया जाना आवश्यक हो गया।

मुगलों के अधीन भू-राजस्व व्यवस्था की मूल विशेषता यह थी कि कृषकों से उनका अधिशेष उत्पादन (जीवन यापन के लिए जरूरी मात्रा के अतिरिक्त उत्पादन) भू-राजस्व के रूप में ले लिया जाता था, जो राज्य की आय का प्रधान स्रोत था। प्रारम्भिक ब्रिटिश प्रशासकों ने भू-राजस्व को जमीन के लगान के रूप में ग्रहण किया, क्योंकि उनकी समझ में राजा भूमि का मालिक था। मुगल कालीन इतिहास के अध्ययन से यह पता चतला है कि उस काल में यह कर फसल (उत्पादन) पर लगता था और इस प्रकार मुगल व्यवस्था अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई भू-राजस्व प्रणाली से भिन्न थी। अबुल फज़ल *आइन-ए अकबरी* में राज्य द्वारा करारोपण को न्यायोचित ठहराते हुए कहता है कि 'यह राज्य द्वारा दिए जाने वाले संरक्षण और न्याय व्यवस्था के बदले लिया जाने वाला संप्रभुता शुल्क है।'

आइए इस इकाई में दिल्ली सल्तनत कालीन और मुगल आर्थिक संस्थाओं और परिवर्तनों का अध्ययन करें।

10.2 *खालिसा*

वह क्षेत्र जिसका राजस्व सीधे सुल्तान के निजी कोष के लिए वसूल किया जाता था, *खालिसा* कहलाता था। अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में *खालिसा* क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई। परन्तु *खालिसा* पूरे राज्य में फैले हुए क्षेत्र नहीं थे। संभवतः दिल्ली और इससे जुड़े हुए जिले तथा दोआब के भाग *खालिसा* के अंतर्गत आते थे। इल्तुतमिश के काल में तबरहिंद (भटिंडा) भी *खालिसा* के अंतर्गत था। अलाउद्दीन खलजी के अधीन संपूर्ण मध्य दोआब और रूहेलखंड के कुछ भाग *खालिसा* के अंतर्गत आ गए थे। परन्तु संभवतः फिरोज़ तुगलक के समय *खालिसा* के क्षेत्रफल में यथेष्ट कमी आई।

मुगलों के अधीन *खालिसा* या *खालिसा-ए शरीफा* स्थिर नहीं थी, बल्कि समय-समय पर बदलती रही। अकबर के काल में यह कुल *जमा* का लगभग 25 प्रतिशत थी; जबकि जहांगीर के काल में यह घटकर कुल *जमा* का $\frac{1}{20}$वां हिस्सा हो गई। शाहजहां के काल में यह *जमा* का $\frac{1}{7}$वां हिस्सा थी, जो औरंगज़ेब के काल में कुल *जमा* का $\frac{1}{5}$वां हिस्सा हो गई। लेकिन फिर भी साम्राज्य के कुल राजस्व का लगभग $\frac{4}{5}$वां भाग *जागीरों* के रूप में आवंटित किया जाता था।

10.3 दिल्ली सुल्तानों के अधीन भू-राजस्व और उसकी वसूली

भारत के नए शासक इस्लामी भूमिकर *खराज* से भली-भांति परिचित थे। *खराज* भूमि पर उत्पन्न पैदावार का हिस्सा होता था, न कि भूमि पर लगान।

13वीं शताब्दी के दौरान *खराज* ने लगभग भेंट का रूप ले लिया। इसका भुगतान एकमुश्त में, सल्तन पूर्व शासको के अधिपतियों द्वारा किया जाता था, जिनके साथ सल्तनत शासक वर्ग ने एक समझौता कर लिया था। दूसरी ओर, सल्तनत की आज्ञा न मानने वाले क्षेत्रों (*मवास*), जहाँ ऐसे समझौते संभव नहीं थे, में लूटमार और लड़ाई द्वारा वसूली की जाती थी। यह वसूली संभवतः मुख्यतः मवेशियों और दासों के रूप में की जाती थी।

दिल्ली सल्तनत के स्रोत ऐसे कोई संकेत नहीं देते हैं कि अलाउद्दीन खलजी (1296-1316) के शासन से पूर्व *खराज* के निर्धारण और उसकी वसूली को व्यवस्थित करने का कोई गंभीर प्रयास किया गया हो।

10.3.1 अलाउद्दीन खलजी की कृषि नीति

अलाउद्दीन खलजी का प्रयास था कि राज्य की ओर से राजस्व की मांग बढ़ाकर आमदनी को बढ़ाया जाए, सीधी वसूली करके बिचौलियों को मिलने वाले मुनाफों को समाप्त किया जाए।

आप जानते हैं कि राज्य की मांग अनाज के रूप में निर्धारित की जाती थी, परन्तु वसूली साधारणतः नकद में होती थी। बरनी से हमें ज्ञात होता है कि राजस्व संग्रह-कर्ताओं को राजस्व की वसूली इतनी कड़ाई से करने के आदेश दिए जाते थे जिससे कि किसान अपनी उपज को खेतों में ही बेचने को विवश हो जाएँ। अन्यत्र बरनी लिखता है कि अलाउद्दीन खलजी ने दोआब क्षेत्र को *खालिसा* में शामिल कर वहाँ से प्राप्त कर (***महसूल***) को सैनिकों को नकद वेतन देने में खर्च किया।

साथ ही, हमें इसी लेखक का एक विरोधीभासी कथन मिलता है कि सुल्तान ने किसानों को नकद के स्थान पर अनाज के रूप में कर अदा करने का आदेश दिया। इरफान हबीब के अनुसार इसका संबंध दोआब में *खालिसा* के केवल कुछ भागों से रहा होगा। सुल्तान को अपने अन्न भंडारों के लिए वहाँ से आपूर्ति की आवश्यकता थी। अन्यथा, वसूली सामान्य तौर पर नकद में होती थी।

इस नई नीति ने ग्रामीण बिचौलियों को किस प्रकार प्रभावित किया, इसके बारे में हम **इकाई 11** में अध्ययन करेंगे।

अलाउद्दीन खलजी द्वारा प्रारंभ की गई कर प्रणाली दीर्घकाल तक जारी रही, यद्यपि ग़ियासुद्दीन तुगलक (1320-25) ने कुछ सीमा तक इसे संशोधित किया और *खोत* और *मुकद्दमों* को अपनी उपज और मवेशी पर कर देने से मुक्त किया। लेकिन उसने अपने किसानों पर किसी प्रकार के उप-कर (*अबवाब*) लगाने की स्वीकृति नहीं दी।

10.3.2 मुहम्मद तुगलक की कृषि नीति

प्रारंभ में मुहम्मद तुगलक ने अलाउद्दीन खलजी की भूमि की माप पर आधारित राजस्व संग्रह प्रणाली को गुजरात, मालवा, दक्खन, दक्षिण भारत और बंगाल में लागू किया। बाद में उसने कृषि कर की दर में विशेष वृद्धि कर दी। बरनी का कथन कि यह वृद्धि दस या बीस गुना अधिक थी निश्चय ही अतिशयोक्तिपूर्ण है। परन्तु इससे स्पष्ट होता है कि वृद्धि बहुत बड़ी मात्रा में की गई थी। बरनी का कहना है कि अतिरिक्त नए कर (*अबवाब*) भी लगाए गए। दूसरे करों, *खराज*, *चराई* और गृह-कर (*घरी*) को भी सख्ती से वसूला जाने लगा। याहया के अनुसार मवेशियों को *दागा* गया और घरों की गिनती की गई, जिससे कोई कर से मुक्त न हो सके। लेकिन इन उपायों से अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि *खराज* के आकलन हेतु *वफा-ए फरमानी* (राज्य द्वारा निर्धारित पैदावार) और *निरख-ए फरमानी* (राज्य द्वारा घोषित मूल्य) को आधार बनाया गया। इससे स्पष्ट अर्थ निकलता है कि राजस्व की गणना करते वक्त उपज और मूल्यों के जिन आंकड़ों का उपयोग किया गया, वे वास्तविक नहीं थे।

इससे आसानी से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपज और मूल्यों का सरकारी निरीक्षण निश्चय ही बढ़ा कर दिया गया था। वास्तविक उपज के बजाय बढ़ी हुई उपज का प्रयोग और बाज़ार में चल रहे मूल्यों से कहीं अधिक मूल्यों के उपयोग से उत्पाद की कीमत तथा राज्य की हिस्सेदारी में वृद्धि अतिरंजनापूर्ण थी। राजस्व मांग में इस वृद्धि से जुताई योग्य भूमि कम होती गई, किसानों का पलायन हुआ और जैसा कि हम **इकाई 11** में देखेंगे, दोआब और दिल्ली के आसपास विशाल किसान आंदोलन हुए। इससे दिल्ली को होने वाली अनाज की आपूर्ति बंद हो गई और लगभग 7 वर्षों तक, 1335 से 1342, अकाल की चोट सहनी पड़ी।

मुहम्मद तुगलक वह पहला सुल्तान था, जिसने इन समस्याओं से जूझते हुए कृषि को बढ़ाने हेतु एक कृषि नीति को निरूपित करने का प्रयास किया। उसने जुताई योग्य भूमि के विस्तार तथा सिंचाई के लिए कुएं खोदने जैसे कार्यों हेतु सोनधर नामक कृषि ऋण प्रारंभ किया। बरनी के अनुसार 1346-47 तक 70 लाख *टनका* (अफीफ के अनुसार 2 करोड़ *टनका*) *सोनधर* के तहत वितरित किए गए, परंतु किसानों को शायद ही इसका कोई अंश मिला।

कृषि को बढ़ाने के लिए *दीवान-ए अमीर-ए कोही* नामक नया मंत्रालय स्थापित किया गया। इसके दो मुख्य कार्यों में खेती योग्य भूमि में विस्तार और अनुपयोगी कृषि भूमि को सुधारने तथा बोई जाने वाली फसलों में सुधार लाना था। यह सलाह दी गई कि गेहूं के स्थान पर गन्ना और गन्ने के स्थान पर अंगूर और खजूर की कृषि की जानी चाहिए।

सुल्तान अपनी कृषि सुधार योजना को लागू करने में इतना दृढ़ निश्चियी था कि एक धर्मशास्त्री के यह कहने पर कि नकदी में ऋण देकर अनाज के रूप में ब्याज प्राप्त करना एक पाप था, उसे फांसी दे दी गई।

लेकिन फिर भी बरनी का मानना है कि ये सब उपाय लगभग पूर्णतः असफल सिद्ध हुए। फिरोज़ तुगलक (1351-88) ने इस नीति को त्याग दिया। साथ ही कृषि संबंधी उप-करों को भी समाप्त किया और गृह-कर (*घरी*) और *चराई* कर वसूलने पर रोक लगा दी। लेकिन उसने *खराज* (भूमि कर) से भिन्न एक दूसरा कर *जज़िया* किसानों पर लगाया। उसने हरियाणा में, जहां उसने नहरें खुदवायीं, एक प्रकार का सिंचाई कर (*हक-ए शर्ब*) प्रारंभ किया।

बाद के काल से संबंधित बहुत कम सूचनाएँ मिलती हैं, लेकिन शासक जो भी रहें हों, भूमि कर की नकद धन के रूप में वसूली शायद इब्राहिम लोदी (1517-26) के समय तक जारी रही। मुद्रा की कमी और खाद्यान्नों के मूल्यों में गिरावट को देखते हुए उसने भू-राजस्व को वस्तु तथा अनाज के रूप में प्राप्त करने के आदेश दिए।

1) अलाउद्दीन खलजी की भू-राजस्व प्रणाली का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) सही और गलत वाक्यों के आगे (✓) अथवा (×) का चिह्न लगाइएः

क) वे क्षेत्र जो बिना बल प्रयोग के *खराज* अदा नहीं करते थे, *मवास* कहलाते थे। ( )

ख) ग़ियासुद्दीन तुगलक ने *खोतों* और *मुकद्दमों* की फसलों और मवेशियों पर कर लगाया। ( )

ग) इब्राहिम लोदी ने राजस्व वसूली नकद धन के रूप में करने का आदेश दिया। ( )

10.3.3 अलाउद्दीन खजली का बाज़ार नियंत्रण

अलाउद्दीन खलजी की नीतियों ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था तक ही सीमित न रहकर नगरीय बाज़ार व्यवस्था को भी प्रभावित किया। उसे उन सात अधिनियमों को जारी करने का श्रेय दिया जाता है, जो बाज़ार नियंत्रण उपायों के रूप में जाने जाते हैं। बरनी, जो इस संबंध में हमारा मुख्य स्रोत है, ही केवल ऐसा प्रमाण है जिससे इन अधिनियमों के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त होती है।

सुल्तान ने सभी वस्तुओं, खाद्यान्नों से लेकर वस्त्रों, दासों, मवेशियों इत्यादि (**अधिनियम 1**) की कीमतों को निर्धारित किया। अपने उपायों को सफल बनाने के उद्देश्य से सुल्तान ने इन कीमतों को बलपूर्वक लागू करने की पूरी व्यवस्था की। एक बाज़ार नियंत्रक (*शहना-ए मण्डी*), *बरीदों* (खुफिया अधिकारी) और *मुनहियानों* (गुप्तचरों) की नियुक्ति की गई (**अधिनियम 2**)। खाद्यान्न व्यापारियों को *शहना-ए मंडी* के नियंत्रण में रखा गया और उनसे जमानत ली गई (**अधिनियम 4**)। सुल्तान स्वयं प्रतिदिन इन तीनों स्रोतों से अलग-अलग जानकारी प्राप्त किया करता था (**अधिनियम 7**)। जमाखोरी (*इहतिकार*) पर प्रतिबंध था (**अधिनियम 5**)। बाज़ार में सख्त नियंत्रण सुनिश्चित करते हुए भी सुल्तान ने जरूरी आवश्यकताओं जैसे अनाजों और अन्य वस्तुओं की कम दरों पर नियमित आपूर्ति को नज़रअंदाज नहीं किया।

सल्तनत काल में तत्कालीन स्रोतों में वर्णित कुछ वस्तुओं का मूल्य
(मूल्यः *जीतल* प्रति मन)

नं.	सामग्री	अलाउद्दीन खलजी	मुहम्मद तुगलक	फिरोज़ तुगलक
1	गेहूँ	7½	12	8
2	जौ	4	8	4
3	धान	5	14	–
4	दालें	5	–	4
5	मोठ	3	4	4
6	शक्कर (सफेद)	100	80	–
7	शक्कर (खांड)	60	64	120,140
8	भेड़ का गोश्त	10-12	64	–
9	घी	16	–	100

मूल्य-सूची के. एम. अशरफ की पुस्तक, *लाइफ एण्ड कंडीशन्स आफ द पीपुल आफ हिन्दुस्तान,* दिल्ली, 1970, पृ. 160 से ली गई है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर तैयार की गई इस मूल्य-सूची से स्पष्ट है कि मुहम्मद तुगलक के शासन काल में कीमतें बढ़ीं तथा पुनः फिरोज़ तुगलक के शासन काल में वे अलाउद्दीन खलजी के काल में प्रचलित मूल्य-स्तर पर पहुँच गईं।

यह बात स्पष्ट है कि बाज़ारों में खाद्यान्न व्यापारी उसी अवस्था में आपूर्ति कर सकते थे, यदि उन्हें सस्ती दरों पर खाद्यान्न उपलब्ध होते। प्रकटतः इसी कारण सुल्तान ने दोआब में भू-राजस्व को इतनी सख्ती से वसूलने का आदेश दिया कि किसान खेतों के निकट ही अपनी पैदावार *कारवानियों* (खाद्यान्न व्यापारियों) को बेचने को मजबूर हो गए (**अधिनियम 6**)।

सुल्तान ने दिल्ली और राजस्थान में झाइन नामक स्थान पर अन्न भंडार गृहों की स्थापना की। दोआब की *खालिसा* भूमि से भूमि कर वस्तुओं के रूप में वसूल किया गया। यह अनाज राज्य के अन्न भंडार गृहों में जमा होता था (**अधिनियम 3**)। मुल्तानी वस्त्र व्यापारियों को वस्त्र खरीदने और बाज़ार में लाने हेतु 20 लाख *टनका* का अंग्रिम ऋण दिया गया।

इस संदर्भ में सभी स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि सुल्तान को मूल्यों को कम रखने और बाज़ार में वस्तुओं की प्रचुर आपूर्ति जारी रखने में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु इस बात को लेकर विभिन्न मत हैं कि सुल्तान द्वारा बाजार नियंत्रण क्यों लागू किया गया और किस-किस क्षेत्र में इसको लागू किया गया। दरबारी कवि अमीर खुसरो ने इन उपायों को अतिशय उदारतापूर्ण तथा साधारण जनता के सुख-चैन व कल्याण हेतु बताया है। चिश्ती संत नसीरूद्दीन महमूद (*चिराग-ए दिल्ली*) ने इसे सुल्तान द्वारा सभी की भलाई के लिए किया गया प्रयास बताया है। परन्तु इतिहासकार बरनी का मत बिल्कुल भिन्न है। इसके लिए वह सुल्तान की परोपकारी भावनाओं को श्रेय न देकर ठोस वित्तीय कारण बताता है। सुल्तान मंगोल आक्रमण से सुरक्षा हेतु एक बड़ी सेना के निर्माण हेतु चिन्तित था और सामरिक महत्व के स्थानों पर किलों का निर्माण कर तथा दिल्ली के चारों ओर दीवार खड़ी करके किलेबंदी करना चाहता था। यदि अतिरिक्त घुड़सवारों और सैनिकों को तत्कालीन वेतनमानों पर नियुक्त किया जाता तो राजकोष पूर्ण रूप से खाली हो जाता। वेतनमानों में कमी उसी अवस्था में की जा सकती थी यदि कीमतों को पर्याप्त रूप से कम स्तर तक रखा जाता।

बरनी के ये विचार अधिक तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। चूंकि मुख्य *लश्करगाह* (सैनिक छावनी) दिल्ली में थी और अधिकांश शाही सैनिक दिल्ली और उसके आसपास तैनात थे, बाज़ार नियंत्रण का प्रमुख केन्द्र स्वयं दिल्ली ही था। तथापि, चूंकि दोआब के आसपास के क्षेत्रों के द्वारा खाद्यान्नों की सस्ते दरों पर आपूर्ति अनाज के व्यापारियों को प्राप्त होती थी, उन स्थानों में भी कीमतों की कम दरें प्रचलित थीं।

बाज़ार नियंत्रण लंबे समय तक जारी नहीं रहा और अलाउद्दीन खलजी के शासन काल के बाद हमें इसके बारे में सूचना नहीं मिलती है। मूल्य नियंत्रण में सफलता प्राप्त करने के लिए एक अत्यन्त कार्य-कुशल और चौकन्ने प्रशासन की जरूरत थी। अतएव, इसके जारी न रहने का एक संभाव्य कारण पर्याप्त रूप से योग्य प्रशासन की कमी होना रहा होगा। परन्तु, इरफान हबीब, अलाउद्दीन खलजी के उत्तराधिकारी द्वारा मूल्य नियंत्रण की नीति को त्यागने के लिए एक भिन्न मत प्रकट करते हैं। चूंकि, कम कीमतों के प्रचलन का अर्थ उन क्षेत्रों में कम राजस्व प्राप्ति था, मूल्य नियंत्रण कम कीमतों वाले क्षेत्र के सीमित होने तक ही व्यावहारिक था और अधिकांश व्यय भी वहीं केन्द्रित था। मंगोलों के खतरे के टलते ही सेना और व्यय को, दिल्ली और उसके आसपास ही केन्द्रित न कर, उसका विकेंद्रीकरण करना आवश्यक हो गया। अतः अब राज्य कोषागार का हित मूल्य नियंत्रण को समाप्त करने में था।

बोध प्रश्न-2

1) अलाउद्दीन खलजी द्वारा 'मूल्य नियंत्रण' लागू करने के हेतु किए गए उपायों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) संक्षेप में इनके कारण बताइएः

अ) 'मूल्य नियंत्रण' लागू करने के विषय में बरनी के विचारः

.....

.....

ब) अलाउद्दीन खलजी के उत्तराधिकारियों के काल में मूल्य नियंत्रण समाप्त करनाः

.....

.....

10.4 दिल्ली सुल्तानों का राजस्व प्रशासन

तेरहवीं शताब्दी में राजस्व व्यवस्था किस प्रकार की थी? इसके विषय में बहुत स्पष्ट जानकारी हमारे पास नहीं है। यहाँ तक कि इलबरी शासन में भूमि-कर की सही दर के विषय में भी ज्ञात नहीं है। संभवतः पुरानी कृषि और भूमि-कर व्यवस्था ही जारी रही। प्रमुख अंतर यह था कि केन्द्र में भूमि के अधिशेष उत्पादन पर अधिकार करने वाला वर्ग बदल गया। अर्थात पुराने शासक-वर्ग के स्थान पर अब तुर्की शासक-वर्ग भू-राजस्व प्राप्त करने लगा। इस व्यवस्था के विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए हम इतिहासकार बरनी के विवरण (जो अलाउद्दीन खलजी के शासन के प्रारंभिक वर्षों का विवरण है) का विश्लेषण कर सकते हैं। संक्षेप में बरनी हमें तीन ग्रामीण-अभिजात या उच्च वर्गों के विषय में बताता है। यह वर्ग हैंः *खोत, मुकद्दम* और *चौधरी* जो राज्य की ओर से किसानों से भूमि-कर, या *खराज* वसूल करते थे। यह लोग किसानों से कर वसूल करके *दीवान-ए विज़ारत* के अधिकारियों के पास जमा कर देते थे। इस कार्य के बदले में अपने पारिश्रमिक के रूप में उन्हें कर वसूली का एक भाग प्राप्त करने का अधिकार था, जिसे *हक्क-ए खोती* या *खोती* का अधिकार कहते थे। यह राशि उन्हें नकद रूप में नहीं मिलती थी, बल्कि कर-मुक्त भूमि के रूप में मिलती थी अर्थात् भूमि के एक भाग का कर वह स्वयं अपने पास रख सकते थे। इसके अतिरिक्त यह किसानों से भी उनकी उपज का कुछ भाग अलग से लेते थे, जिसे बरनी *किस्मत-ए खोती* कहता है। भूमि-कर के अतिरिक्त प्रत्येक कृषक को गृह-कर (*घरी*) और पशु या चरागाह कर (*चराई*) भी देना होता था। यह भी संभव है कि शायद *चौधरी* सीधे कर इकट्ठा करने की व्यवस्था से जुड़ा हुआ नहीं था, क्योंकि इब्न बतूता के अनुसार, *चौधरी* 'सौ गांवों' (*परगने*) का प्रमुख होता था। इस अनुमान को और अधिक बल इस तथ्य से मिलता है कि बरनी हमेशा *हक्क-ए खोती* या *मुकद्दमी* जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, *हक्क-ए चौधरी* की बात कहीं नहीं करता। इतिहासकार डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड इन तीनों वर्गों के लिए मध्यस्थ-वर्ग (intermediaries) जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं। हम भी इस इकाई में इन वर्गों को मध्यस्थ-वर्ग ही कहेंगे।

अलाउद्दीन खलजी ने इस मध्यस्थ-वर्ग का दमन क्यों किया? बरनी ने अलाउद्दीन के इस कार्य के लिए उत्तरदायी कारणों का विस्तार से वर्णन किया है (देखिए **भाग 10.3.1**)। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्यस्थ-वर्ग हमेशा विद्रोह के लिए तैयार एक असाध्य वर्ग हो गया था। सुल्तान ने उनके विरूद्ध निम्न प्रमुख आरोप लगाएः

क) मध्यस्थ-वर्ग अपनी भूमि के उस भाग पर कर नहीं देते थे जो कर-मुक्त नहीं थी, बल्कि वे अपने कर का 'बोझ' किसानों पर डाल देते थे अर्थात् अपना कर अदा करने के लिए वे किसानों से राज्य द्वारा निर्धारित दर से अधिक राजस्व वसूल करते थे।

ख) वे *चराई* कर नहीं देते।

ग) गलत तरीकों से प्राप्त 'अत्यधिक दौलत' ने उन्हें इतना घमण्डी बना दिया था कि वे राजस्व अधिकारियों के आदेशों का पालन नहीं करते थे और जब उन्हें हिसाब देने के लिए राजस्व कार्यालय में बुलाया जाता, तो वे नहीं जाते।

इन परिस्थितियों में सुल्तान को आर्थिक और राजनीतिक कारणों से उनकी आय के साधनों पर प्रहार करना पड़ा। इसके लिए सुल्तान ने जो कदम उठाए वह निम्न थेः

i) राज्य की ओर से राजस्व-दर कुल उपज के आधे के बराबर निश्चित की गई अर्थात् उपज का आधा भाग राज्य कर के रूप में लेगा। भूमि की नाप (*मसाहत*) की गई और उसकी प्रत्येक इकाई पर कर निश्चित किया गया। इसके लिए *वफा-ए बिस्वा* शब्द प्रयोग किया गया (*वफा*=उपज; *बिस्वा*=बीघे का $\frac{1}{20}$वां भाग)। संभवतः प्रत्येक किसान की भूमि पर पृथक-पृथक कर निर्धारित किया गया।

ii) किसानों और मध्यस्थों पर कर की दर समान रखी गई (50 प्रतिशत)। इसमें कोई भेद नहीं किया गया, चाहे वे मध्यस्थ हों या 'सामान्य किसान' (*बलाहार*)।

iii) मध्यस्थों के अनुलाभ (perquisites) समाप्त कर दिए गए।

iv) मध्यस्थों से भी गृह कर और *चराई* कर वसूल किया गया।

इससे यह स्पष्ट है कि इन आदेशों का एक उद्देश्य किसानों को मध्यस्थों की अवैधानिक वसूली से बचाना था। बरनी का कथन भी यही है कि सुल्तान की नीति का उद्देश्य यह था कि 'शक्तिशाली' (*अक़विया*) का 'बोझ' (*बार*) 'कमजोर' (*ज़ुआजा*) पर नहीं पड़ना चाहिए। हम यह जानते है कि राज्य द्वारा उपज के 50 प्रतिशत की मांग भारत के भू-राजस्व के इतिहास में सर्वाधिक है। एक ओर, जहाँ किसान अब मध्यस्थों के अत्याचार से बच सके, वहीं अब उन्हें पहले की अपेक्षा कर भी अधिक देना पड़ा। चूंकि कर की दर सब लोगों के लिए समान थी, इसलिए यह प्रतिगामी (regressive) कर था (अर्थात् अधिक गरीब के लिए कर का बोझ अधिक और कष्टदायी)। इस प्रकार, राज्य ने तो मध्यस्थों का नुकसान करके अपनी आय बढ़ा ली, परन्तु किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। उनकी स्थिति उसी प्रकार दयनीय ही रही।

ऐसे किसान जो गरीब थे और जिनके पास कोई संसाधन नहीं थे पूरी तरह कुचल दिए गए तथा अमीर किसान जिनके पास संसाधन थे, विद्रोही हो गए। पूरे इलाके बर्बाद हो गए। खेती पूरी तरह खत्म हो गई। जब दूर के क्षेत्र में दोआब के किसानों की बर्बादी की खबरें पहुंची तो वहाँ के किसान भी खेतों को छोड़कर जंगलों की ओर भागने लगे। उन्हें भय था कि दोआब में जारी दमनकारी आदेश उनके क्षेत्रों में लागू किए जाएंगे। सुल्तान जिन दो वर्षों में (लगभग 1332-34) दिल्ली रहा उस काल में सख्ती के साथ राजस्व की मांग और अनेक प्रकार के अतिरिक्त करों (*अबवाब*) की बहुतायत से दोआब बर्बाद हो गया। 'हिन्दुओं' ने अनाज के ढेरों में आग लगा कर जला दिया और अपने घरों से जानवरों को भगा दिया। सुल्तान ने *शिकदारों* और *फौजदारों* (राजस्व संग्राहक और सैनिक प्रमुख) को आदेश दिया कि पूरे क्षेत्र को उजाड़ दें और लूटमार करें। उन्होंने बहुत से *खोत* और *मुकद्दमों* को मार डाला और बहुतों को अंधा कर दिया। जो बच निकले उन्होंने अपने गिरोह बना लिए और जंगलों की ओर भाग गए। पूरा क्षेत्र बर्बाद हो गया। उन्हीं दिनों सुल्तान शिकार खेलने बरन (आधुनिक बुलंदशहर) गया। उसने आदेश दिया कि बरन के संपूर्ण क्षेत्र को लूट कर उजाड़ दिया जाए। सुल्तान ने कन्नौज से लेकर दलमऊ तक के संपूर्ण क्षेत्र में स्वयं लूटमार की और उजाड़ दिया। जो भी पकड़ा गया, मार डाला गया। अधिकांश (किसान) भाग गए और जंगलों में शरण ली। उन्होंने (सुल्तान की सेना ने) जंगलों को घेर लिया और जंगल में जो भी मिला उसे मार डाला।

मुहम्मद तुगलक के शासन काल में किसानों के उत्पीड़न का इतिहासकार बरनी द्वारा वर्णन। अंग्रेजी प्रारूप के लिए देखें, *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, संपा. तपन रे चौधरी एवं इरफान हबीब, लंदन, 1982, भाग I, पृ. 64

यह सही है कि अब मध्यस्थों के हाथ से सीधे कर वसूलने का कार्य ले लिया गया लेकिन अब भी उनसे यह आशा की जाती थी कि अपने क्षेत्र में वे कानून और व्यवस्था बनाए रखेंगे तथा बिना किसी पारिश्रमिक के राजस्व अधिकारियों की सहायता करेंगे। राज्य द्वारा किसानों से सीधे सम्पर्क स्थापित किए जाने से राजस्व अधिकारियों की संख्या बहुत बढ़ गई। यह अधिकारी विभिन्न नामों से जाने जाते थे, जैसे '***उम्माल***, *मुतसर्रिफ, मुशरिफ, मुहासिलान, नवीसिन्दगान,* आदि। कुछ ही समय बाद मध्यस्थों में भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया जिसके लिए *नायब वज़ीर* शरफ कैनी ने उन्हें कठोरता से दण्डित कियाः आठ से दस हजार तक अधिकारी जेल में डाले गए। धोखाधड़ी पकड़ने की प्रक्रिया बहुत सरल थी। लेखा परीक्षक गांव के *पटवारी* की *बही* या खाते की सूक्ष्मता से जाँच करते थे। किसानों द्वारा राजस्व अधिकारियों को किए गए प्रत्येक वैधानिक या अवैधानिक भुगतान का विवरण ***बही*** में रहता था। इन भुगतानों की तुलना

वसूली की प्राप्ति से की जाती थी और भ्रष्टाचार पकड़ा जा सकता था। अलाउद्दीन खलजी ने कर वसूलने वालों के वेतन बढ़ा दिए थे, फिर भी भ्रष्टाचार जारी रहा।

ये नए नियम जिस क्षेत्र में लागू किए गए थे, बरनी उनकी ओर भी संकेत करता है। राज्य के केन्द्र को शामिल करते हुए यह एक विस्तृत क्षेत्र में लागू थे। परन्तु मालवा तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्र और बिहार, अवध तथा गुजरात इसमें सम्मिलित नहीं थे। इस विषय में यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह नियम केवल *ख़ालिसा* ('शाही'अथवा 'सुरक्षित' भूमि) के लिए ही थे।

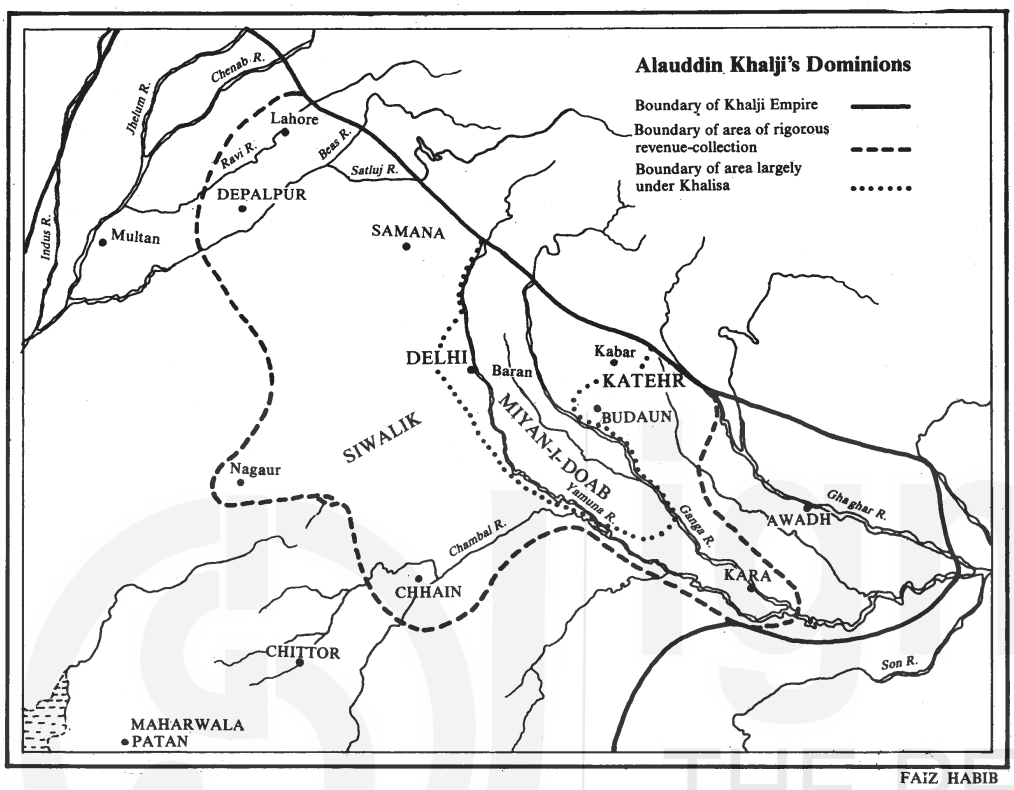

मानचित्र 10.1 : अलाउद्दीन खलजी के साम्राज्य में कठोर राजस्व वसूली का क्षेत्र

साभार : फैज़ हबीब, सेंटर फॉर एडवांस्ड स्टडी इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़

भुगतान की प्रणाली एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न है। मोरलैण्ड का विचार है कि तेरहवीं शताब्दी में नकद वसूली की प्रथा सामान्यतः प्रचलित थी और चौदहवीं शताब्दी तक इसका काफी विस्तार हो गया था। परन्तु अलाउद्दीन ने अनाज के रूप में वसूली को वरीयता प्रदान की। उसने आदेश दिया कि दोआब की सम्पूर्ण *खालिसा* भूमि से वसूली अनाज के रूप में ही की जाए और दिल्ली तथा उसके आसपास के क्षेत्र से केवल आधा राजस्व नकद रूप में वसूला जाए (शेष आधा अनाज के रूप में)। उसके द्वारा अनाज के रूप में वसूली को वरीयता देने का कारण दिल्ली और अन्य क्षेत्रों में अनाज का भण्डारण था जिससे आपात स्थिति (जैसे सूखा पड़ने या अन्य कारण से अनाज की कमी होने पर) में संग्रहित अनाज का उपयोग हो सके। साथ ही, एक अन्य उद्देश्य यह था कि इस संग्रहित अनाज की सहायता से वह अनाज मण्डी में अपनी कीमतों को स्थिर करने की नीति को सफल बना सकता था।

ग़ियासउद्दीन तुगलक द्वारा दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए:

(i) मध्यस्थ वर्ग को *हक्क-ए खोती* का अधिकार वापस दे दिया गया। (परन्तु *किस्मत-ए खोती* का अधिकार नहीं दिया गया) उन्हें गृह कर और चराई कर से भी मुक्ति दे दी गई;

(ii) भूमि को नापने की व्यवस्था (*मसाहत*) तो जारी रखी गई, परन्तु साथ ही अवलोकन या 'वास्तविक उपज' (*बर हुक्म हासिल*) के आधार पर भी कर का निर्धारण जारी रखा।

मुहम्मद तुगलक के कार्यों को लेकर कुछ अनिश्चितता है कि उसने भूमि कर की दर 50 प्रतिशत से भी अधिक बढ़ा दी थी। यह भी कहा जाता है कि अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने कर की दर घटा दी थी जिसे मुहम्मद तुगलक ने फिर 50 प्रतिशत कर

दिया। यह दोनों दृष्टिकोण गलत प्रतीत होते हैंः अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित की गई दर में कभी कोई फेर-बदल नहीं हुआ। वास्तव में, मुहम्मद तुगलक ने कुछ नए कर (*अबवाब*) लगाए और साथ ही पुरानों को फिर जारी किया (उदाहरण के लिए, मध्यस्थों पर फिर *चराई* और गृह कर (*घरी*) लागू किए)। इसके अतिरिक्त, ऐसा भी प्रतीत होता है कि कर निर्धारित करने के लिए सिर्फ भूमि को नापने की प्रथा अपनाई गई। स्थिति उस समय अधिक बिगड़ी जब अनाज के रूप में वसूली 'वास्तविक उत्पादन' के आधार पर न करके सम्पूर्ण नापी गई भूमि में राज्य द्वारा निर्धारित उपज (*वफा-ए फरमानी*) के आधार पर की गई। साथ ही, नकद रूप में वसूली करने के लिए भी बाजार में अनाज के प्रचलित मूल्यों को आधार नहीं बनाया गया। बल्कि 'सुल्तान द्वारा निर्धारित मूल्य' (*निरख-ए फरमानी*) को आधार माना गया। इस सबके ऊपर, जैसा कि बरनी कहता है, इन सभी करों को अत्यन्त कठोरता से वसूल करने की कोशिश की गई। इन नियमों को दोआब की सम्पूर्ण *ख़ालिसा* भूमि पर लागू किया गया। परिणाम प्रत्यक्ष थे कि मध्यस्थों के नेतृत्व में किसानों का अभूतपूर्व विद्रोह, जिसने खूनी संघर्ष को जन्म दिया। बाद में फिरोज़ शाह तुगलक ने लगभग तेईस प्रकार के उप-कर या *अबवाब* समाप्त किए जिसमें *चराई* और *घरी* (गृह-कर) भी शामिल थे।

राजस्व को ठेके पर देने की प्रथा एक अन्य प्रमुख कदम था जो विशेषकर तुगलक काल में अपनाया गया। इस व्यवस्था के अनुसार, कुछ क्षेत्रों में राजस्व वसूल करने का उत्तरदायित्व ठेकेदारों को दे दिया गया। ठेकेदार संभवतः कुल राशि अग्रिम रूप में देकर किसी क्षेत्र में एक निश्चित समय के लिए कर इकट्ठा करने का अधिकार प्राप्त कर लेते थे। फिरोज़ शाह के काल में एक 'सिंचाई कर' (*हक़-ए शर्ब*) भी उन लोगों पर लगाया गया जो राज्य द्वारा निर्मित नहरों से सिंचाई के लिए पानी लेते थे। यहाँ हम आपको यह भी बताना चाहेंगे कि जब फसल खराब हो जाती थी तब राज्य द्वारा भूमि-कर में छूट आदि दी जाती थी। मुहम्मद तुगलक के काल में किसानों को कृषि ऋण *सोनधर* भी दिया जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि दिल्ली सुल्तानों के काल में राज्य का अनुमानित राजस्व कितना था? अभी तक फिरोज़ तुगलक से पहले के काल के विषय में ऐसा कोई भी अनुमान प्रस्तुत नहीं किया गया है। समकालीन इतिहासकार अफीफ के अनुसार सुल्तान (फिरोज़ शाह) के आदेश पर ख्वाजा हिसामउद्दीन जुनैद ने राज्य की *जमा* (अनुमानित आय) 'जांच के नियम' (*बर हुक्म मुशाहदा*) के आधार पर निर्धारित की। इस कार्य को पूरा करने में छः साल लगे। इस गणना के अनुसार, राज्य की आय लगभग 6 करोड़ 75 लाख *तनका* (एक चांदी का सिक्का) आंकी गई। सुल्तान (फिरोज़ शाह तुगलक) के सम्पूर्ण शासन काल में राज्य की यही आय मान्य रही।

बोध प्रश्न-3

1) मध्यस्थ वर्गों को हटाने के लिए अलाउद्दीन खलजी ने क्या प्रयत्न किए?

.....

.....

.....

.....

2) निम्न की परिभाषा दीजिएः

i) *खालिसा* .....

.....

ii) *ख़राज* .....

.....

iii) *अबवाब* .....

.....

iv) *सोनधर* .....

.....

10.5 मुगलकालीन भू-राजस्व व्यवस्था

मुगल शासन के दौरान भू-राजस्व के लिए फारसी शब्द *माल* और *माल वाजिब* का उपयोग होता था। *खराज* शब्द का उपयोग नियमित रूप से नहीं होता था।

भू-राजस्व वसूली की प्रक्रिया दो चरणों में सम्पन्न होती थी क) कर निर्धारण (तशखीस/*जमा*), और ख) वास्तविक वसूली (*हासिल*)।

राज्य की मांग को निर्धारित करने के लिए कर निर्धारण और मूल्यांकन किया जाता था। इस मांग के आधार पर *खरीफ* और *रबी* फसलों के लिए अलग-अलग वास्तविक वसूली की जाती थी।

10.5.1 भू-राजस्व निर्धारण प्रणाली

मुगलों के अधीन *खरीफ* और *रबी* फसलों का राजस्व निर्धारण अलग-अलग किया जाता था। मूल्यांकन और निर्धारण प्रक्रिया समाप्त होने पर एक *पट्टा, कौल* या *कौल करार* जारी किया जाता था जिसमें किसानों द्वारा देय कर राशि या राजस्व मांग की दर का उल्लेख होता था। इसके साथ.साथ जिस पर कर लगाया जाता था उसे *कबूलियत* अर्थात् 'स्वीकृति' देनी पड़ती थी कि उसे यह निर्धारण मंजूर है और वह कब और कैसे 'भुगतान' करेगा।

यहां हम आम तौर पर प्रचलित कुछ प्रणालियों का उल्लेख करेंगेः

1) ***गल्ला बख्शी* (फसल-बंटवारा विधि):** कुछ क्षेत्रों में इसे *भाओली* और *बटाई* भी कहते थे। *आईन-ए अकबरी* में फसल के बंटवारे के लिए तीन तरह की पद्धतियों का उल्लेख मिलता है।

क) **खलिहान में अनाज को अलग करने के तुरन्त बाद ही राजस्व का बंटवाराः** यह बंटवारा निर्धारित समझौते के आधार पर दोनों पक्षों के समक्ष होता था।

ख) **खेत बटाईः** फसल के खेत में लगे रहने के वक्त ही खेत में निशान लगा कर खेत को हिस्सों में बांट लिया जाता था।

ग) **लांग बटाईः** फसल काटकर (उसे अनाज से अलग किए बिना) खलिहान में गट्ठर बनाकर रख दिया जाता था और इसके बाद फसल के इन गट्ठरों का बंटवारा होता था।

मलिकज़ादा कृत *निगारनामा-ए मुंशी* (17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखित) में फसल बंटवारे को राजस्व निर्धारण तथा राजस्व वसूली की सर्वोत्तम प्रणाली कहा गया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत राज्य और किसान दोनों को एक बराबर मौसम की मार झेलनी पड़ती थी (प्राकृतिक विपदा द्वारा फसल का नुकसान होने की स्थिति में)। परन्तु, अबुल फज़ल के अनुसार यह प्रणाली राज्य को मंहगी पड़ती थी क्योंकि उसे बड़ी मात्रा में निगरानी के लिए कर्मचारियों को रखना पड़ता था, जो फसल की निगरानी करते थे ताकि कटाई के पहले कोई गड़बड़ी न कर सके। जब औरंगजेब ने दक्खन में यह प्रणाली लागू की तो केवल फसल की निगरानी की व्यवस्था करने के कारण राजस्व वसूली की लागत दोगुनी हो गई।

2) ***कनकूत* (*दानाबंदी*):** *कनकूत* शब्द *कन* और *कूत* के मिलने से बना है। '*कन*' का अर्थ अनाज और '*कूत*' का मतलब मूल्यांकन या आकलन होता है। इसी प्रकार '*दाना*' का अर्थ अनाज है और '*बंदी*' का मतलब निर्धारण करना या निश्चित करना होता है। इस प्रणाली में अनाज उत्पादन (उत्पादकता) का आंकलन किया जाता था। *कनकूत* में सर्वप्रथम रस्सी या चलकर, कदमों द्वारा, खेत को नापा जाता था।

इसके बाद उत्तम, मध्यम और खराब तीनों प्रकार की जमीनों की प्रति बीघा उत्पादकता का आंकलन किया जाता था और तद्नुरूप कुल भूमि पर राजस्व मांग तय की जाती थी।

3) ज़ब्तीः यह मुगल कालीन राजस्व निर्धारण की महत्वपूर्ण प्रणाली थी। इसकी शुरुआत शेरशाह के काल से मानी जाती है। अकबर के जमाने में कई बदलावों के बाद इसने अंतिम रूप ग्रहण किया।

शेरशाह ने राज्य की ओर से *पोलज* (वह भूमि जिस पर लगातार बुआई की जाती थीं) तथा *परौती* (वह भूमि जिसे यदा.कदा ही खाली छोड़ा जाता था) भूमि के लिए *रे* (प्रति बीघा उपज) निर्धारित किया। *रे* निर्धारण के लिए तीन दरों को विचार में रखा जाता था। यह दरें उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी की भूमि की उत्पादकता पर आधारित थीं। इन तीन श्रेणी की भूमियों की औसत उत्पादकता का एक तिहाई कर के रूप में निर्धारित किया जाता था। अकबर ने शेरशाह के *रे* को अपनाया। अकबर ने *करोड़ी* नाम से जाना जाने वाला प्रयोग भी लागू किया। इस प्रयोग के अन्तर्गत 1574-1575 में पूरे उत्तर भारत में *करोड़ियों* को नियुक्त किया गया। सम्पूर्ण *जागीर* भूमि को *खालिसा* भूमि में परिवर्तित कर दिया गया। *करोड़ियों* द्वारा अपने क्षेत्रों की उत्पादकता, वास्तविक उपज और स्थानीय मूल्यों के बारे में जानकारी उपलब्ध कराई गई। इस जानकारी के आधार पर 1580 में अकबर ने *आइन-ए दहसाला* नामक नयी व्यवस्था शुरू की। इसके लिए विभिन्न फसलों के औसत उत्पादन और पिछले दस साल (अकबर के 15वें से 24वें शासकीय वर्ष) के औसत मूल्य की गणना की गई। औसत उत्पादन के कम से कम एक तिहाई हिस्से पर राज्य का अधिकार निश्चित किया गया। *करोड़ी* प्रयोग के तहत सभी प्रांतों में भूमि नापी गई। नाप के लिए जूट की रस्सियों के स्थान पर *तनाब* (लोहे की कड़ी लगी बांस की छड़ों) का उपयोग किया गया। विभिन्न क्षेत्रों को उनकी उत्पादकता और मूल्यों के आधार पर राजस्व की दृष्टि से '*दस्तूर*' प्रखंडों अथवा राजस्व क्षेत्रों में विभक्त किया गया। प्रत्येक '*दस्तूर*' में हर फसल का प्रति बीघा कर निर्धारण नगद धन के रूप में होता था और उसी के अनुरूप राज्य की मांग निर्धारित की जाती थी। अकबर के अधीन अपनाई गई *ज़ब्ती* व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

i) भूमि की नाप अनिवार्य थी;

ii) प्रत्येक फसल के लिए *दस्तूर उल-अमल* या *दस्तूर* के नाम से जाना जाने वाला नगद राजस्व निर्धारित किया गया; तथा

iii) सभी वसूली नगद में की गई।

प्रशासनिक दृष्टि से *ज़ब्ती* व्यवस्था के कुछ लाभ इस प्रकार थे:

i) भूमि की नाप को कभी भी जांचा जा सकता था;

ii) निर्धारित '*दस्तूरों*' के कारण पदाधिकारी अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे; और

iii) स्थाई *दस्तूरों* के निर्धारण के बाद भू-राजस्व मांग की अनिश्चितता और उतार-चढ़ाव में काफी कमी आ गई।

इस व्यवस्था की कुछ सीमाएँ भी थीं:

i) भूमि की उर्वरता समान न होने पर इसे लागू नहीं किया जा सकता था;

ii) उत्पादकता की अनिश्चिता का दंड केवल किसानों को ही भुगतना पड़ता था और यह किसानों के लिए हानिकारक था। अबुल फज़ल कहता है 'अगर किसानों में *ज़ब्त* को वहन करने की क्षमता नहीं होती है तब राजस्व के रूप में उत्पादन का एक तिहाई हिस्सा लिया जाता है'।

iii) यह एक खर्चीली प्रणाली थी क्योंकि इसमें माप करने वाले दल को पारिश्रमिक के रूप में प्रति *बीघा* एक *दाम* की दर से *ज़ाबिताना* देना पड़ता था;

iv) माप करते समय कर्मचारियों द्वारा गड़बड़ी और धोखाधड़ी की संभावना बनी रहती थी।

ज़ब्ती व्यवस्था केवल साम्राज्य के मुख्य क्षेत्रों में लागू की गई। *ज़ब्ती* के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों में मुगल *सूबे* दिल्ली, इलाहाबाद, अवध, आगरा, लाहौर और मुल्तान प्रमुख थे। यहां तक कि इन *ज़ब्ती* प्रांतों में भी क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों के अनुरूप कर निर्धारण की अन्य प्रणालियां भी प्रचलित थीं।

नस्क़ कर निर्धारण की एक स्वतंत्र प्रणाली थी। यह दूसरी प्रणालियों पर आधारित थी। किसी भी प्रकार के राजस्व निर्धारण और वसूली प्रणाली में इसे अपनाया जा सकता था। उत्तर भारत में

नस्क-ए ज़ब्ती जबकि कश्मीर में यह *नस्क-ए ग़ल्ला बख्शी* के रूप में उपस्थित थी। जब इसे *ज़ब्ती* व्यवस्था से लागू किया जाता था तो वार्षिक माप न करके पुराने आंकड़ों को कुछ फेर बदल के साथ अपना लिया जाता था। *ज़ब्ती* व्यवस्था में प्रत्येक वर्ष माप किया जाता था। अतः प्रशासक और राजस्वदाता दोनों इससे मुक्त होना चाहते थे। इस प्रकार कुछ बदलावों के साथ *जब्ती-ए हरसाला* या वार्षिक माप की प्रथा समाप्त कर दी गयी।

राजस्व ठेके की प्रथा (*इजारा*)

इजारा व्यवस्था या राजस्व ठेके की प्रथा इस युग की राजस्व व्यवस्था की एक अन्य विशेषता है। हालांकि नियमतः मुगलों ने इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया परंतु व्यवहार में कभी-कभी गांवों को *इजारे* या ठेके पर दे दिया जाता था। आमतौर पर उन गांवों में यह व्यवस्था लागू होती थी, जहां के किसानों के पास खेती करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं होते थे या फिर किसी दुर्भिक्ष के कारण खेती नहीं हो पाती थी। राजस्व अधिकारी या उनके संबंधी *इजारे* पर भूमि लेने के अधिकार से वंचित थे। यह उम्मीद की जाती थी कि राजस्व ठेकेदार किसानों से निर्धारित भू-राजस्व से ज्यादा राशि वसूल नहीं करेगा। परन्तु व्यवहार में ऐसा शायद ही होता था।

ज़ब्ती प्रांतों, गुजरात और मुगल दक्खन में *इजारा* प्रथा आमतौर पर प्रचलित नहीं थी। *खालिसा* भूमि में भी यह अपवाद ही था। परन्तु *जागीर* भूमियों में यह चलन सामान्य हो गया था। राजस्व प्राप्तकर्ता *जागीरदार* अपना अधिकार एक बड़ी राशि लेकर बेच दिया करते थे। अक्सर वे इसकी नीलामी कर दिया करते थे। ये ठेकेदार, जो *इजारे* पर भूमि लेते थे, किसानों से राजस्व वसूल करते थे।

कभी-कभी *जागीरदार* अपने मातहतों/सैनिकों को भी अपनी *जागीर* का एक हिस्सा राजस्व वसूली के लिए दे दिया करते थे। 18वीं शताब्दी तक *इजारा* व्यवस्था राजस्व निर्धारण और वसूली के लिए सामान्य तौर पर प्रचलित हो गई थी।

10.5.2 भू-राजस्व मांग का परिमाण

आइए पहले हम इस बात का परीक्षण करें कि राज्य भू-राजस्व के रूप में उपज का कितना अंश ग्रहण करता था। अबुल फज़ल कहता है कि राजा के अपनी प्रजा से वसूली करने के अधिकार पर कोई नैतिक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। 'प्रजा के जीवन और सम्मान के संरक्षक द्वारा अगर उसका सब कुछ हरण कर लिया जाता है तो भी उन्हें अपने संरक्षक के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए'। आगे वह कहता है कि 'न्यायप्रिय शासक' प्रजा से अपनी आवश्यकता से ज्यादा वसूल नहीं करता है। परन्तु यह सीमा उसी के द्वारा निर्धारित की जाएगी।

औरंगजेब ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि भू-राजस्व *शरीअत* के अनुसार अर्थात् कुल उत्पादन के आधे से ज्यादा नहीं लिया जाना चाहिए।

यूरोपीय यात्री पेलसर्ट, जो 17वीं शताब्दी में भारत आया था, उसने लिखा है कि 'किसानों से इतना ज्यादा ले लिया जाता था कि अपना पेट भरने के लिए उन्हें सूखी रोटी तक नहीं मिलती है।' इरफान हबीब लिखते हैं, 'किसानों पर राजस्व मांग के अलावा अन्य करों और पदाधिकारियों की नियमित और अनियमित वसूली का अपार बोझ था।'

शेरशाह ने भूमि की उर्वरता के आधार पर तीन प्रकार की फसल दरें अपनाई थीं और प्रत्येक फसल के लिए इन तीन दरों के अनुपात का $\frac{1}{3}$ अंश राजस्व मांग के रूप में निर्धारित किया गया। अबुल फज़ल वर्णन करता है कि अकबर के अधीन $\frac{1}{3}$ अंश राजस्व मांग निर्धारण की न्यूनतम दर थी। मुगल कालीन राजस्व के विषय में नवीन अध्ययनों से पता चलता है कि मुगलों के शासन काल में भू-राजस्व कुल उत्पादन का $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ के बीच में था। और कुछ इलाकों में $\frac{3}{4}$ भी था। सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर पता चलता है कि विभिन्न प्रांतों (*सूबों*) में राजस्व मांग भिन्न-भिन्न थी। कश्मीर में सिद्धांततः यह मांग $\frac{1}{3}$ थी परंतु वास्तविकता में $\frac{2}{3}$ भाग वसूला जाता था। अकबर ने यहाँ कुल उपज के आधे भाग की मांग का आदेश दिया था।

थट्टा (सिंध) प्रांत में भू-राजस्व एक तिहाई की दर से लिया जाता था। *मज़हर-ए शाहजहानी* (1634 में सिंध के प्रशासन पर लिखा गया संस्मरण) के लेखक यूसुफ मिराक ने लिखा है कि

जब *आइन-ए अकबरी* लिखा गया था, तब थट्टा की *ज़ागीर* तरखानों के पास थी, जो किसानों से कुल उत्पाद का आधे से ज्यादा राजस्व नहीं वसूल करते थे। कभी-कभी वे कुल उत्पाद का एक तिहाई या एक चौथाई हिस्सा ही वसूल करते थे।

अजमेर *सूबे* में भू-राजस्व की दरें भिन्न-भिन्न थीं। पूर्वी राजस्थान के उर्वर क्षेत्र में राजस्व मांग कुल उत्पाद का एक तिहाई से लेकर आधे तक होती थी। *आइन-ए अकबरी* के आधार पर इरफान हबीब कहते हैं कि मरूभूमि प्रदेशों में यह राजस्व मांग कुल उत्पाद का सातवां या आठवां हिस्सा होती थी। लेकिन सुनीता बुधवार ज़ैदी के अनुसार राजस्थान के किसी भी क्षेत्र में इतने कम दर का उल्लेख अन्य स्रोतों में नहीं है। यहां तक कि जैसलमेर में भी कुल उत्पाद का पांचवाँ (*रबी* की फसल में) और *खरीफ* फसल का चौथाई हिस्सा वसूल किया जाता था।

मध्य भारत में यह दर $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$ और $\frac{2}{3}$ के बीच थी। दक्खन में राजस्व की दर $\frac{1}{2}$ (साधारण भूमि पर), $\frac{1}{3}$ (कुओं द्वारा सिंचित भूमि पर), तथा $\frac{1}{4}$ (उच्च किस्म की फसलों पर) थी।

औरंगजेब रसिकदास करोड़ी को लिखे गए अपने *फरमान* (आदेश) में कहता है कि जब किसान परेशान या संकट में हो और बटाई व्यवस्था से वसूली हो तो राज्य द्वारा कर के रूप में $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$ या $\frac{2}{5}$ भाग राजस्व के रूप में वसूल किया जाना चाहिए। औरंगजेब के अधीन अकबर की तुलना में राजस्व दरें अधिक थीं। शायद इसका कारण यह था कि उस काल में कृषि मूल्यों में सामान्य रूप से वृद्धि हुई थी, अतः वास्तविक राजस्व दर में प्रत्यक्षतः कोई वास्तविक वृद्धि नहीं हुई थीं।

राजस्थान के बारे में यह जानकारी मिलती है कि वहाँ वर्ग तथा जाति के आधार पर राजस्व दरें अलग-अलग होती थीं। एस. पी. गुप्ता, सतीश चन्द्र और दिलबाग सिंह के अध्ययनों से पता चलता है कि पूर्वी राजस्थान के कुछ *परगनों* में ब्राह्मणों और बनियों को रियायती दर पर राजस्व देना होता था।

यह कहा जा सकता है कि राजस्व मांग की दर कुल उत्पादन के आधे से लेकर एक तिहाई हिस्से तक थी। चूंकि यह राजस्व भूमि की प्रत्येक इकाई पर 'समरूप' ढंग से आरोपित किया जाता था, चाहे खेत का आकार और प्रकृति जैसी भी हो, यह 'प्रतिगामी' प्रकृति का द्योतक है – छोटे खेतों वाले किसानों पर यह बोझ बड़े किसानों की तुलना में काफी भारी पड़ता था, क्योंकि छोटे किसानों को कम भूमि के आधार पर कोई रियायत नहीं थी।

बोध प्रश्न-4

1) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए:

गल्ला बख्शी: .....

.....

कनकूत: .....

.....

पोलज: .....

.....

रे: .....

.....

2) *ज़ब्ती* व्यवस्था की विशेषताओं और सीमाओं को विश्लेषित कीजिए।

.....

.....

.....

3) मुगल कालीन भारत में राजस्व मांग के पैटर्न पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

10.5.3 भुगतान का माध्यम

कुछ क्षेत्रों में नगद धन के रूप में भू-राजस्व वसूलने की प्रथा 13वीं शताब्दी से ही प्रचलित पाई जाती है। मुगलकाल में *ज़ब्ती* व्यवस्था के अंतर्गत किसानों को नगद रूप में राजस्व का भुगतान करना होता था। किसी भी परिस्थिति में नगदी व्यवस्था को वस्तु के रूप में परिवर्तित करने का कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। हालांकि फसल बंटवारे और *कनकूत* व्यवस्था में वस्तु के रूप में वसूली को नगदी में परिवर्तित करने की व्यवस्था थी। नगद राशि का परिवर्तन वस्तु के बाजार मूल्य पर आधारित होता था। साम्राज्य के प्रत्येक भाग में नगदी व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित थी।

10.5.4 भू-राजस्व वसूली

गल्ला बख्शी के अधीन राज्य का हिस्सा सीधे खेत से वसूल कर लिया जाता था। अन्य व्यवस्थाओं में कटाई के समय राज्य अपना हिस्सा वसूल करता था।

अबुल फज़ल का मानना है कि '*रबी* की वसूली होली और *खरीफ* की दशहरा से शुरू हो जानी चाहिए। पदाधिकारियों को दूसरी फसल के तैयार होने के लिए विलंब नहीं करना चाहिए।'

खरीफ के मौसम में विभिन्न फसलों की कटाई विभिन्न समयों में होती है और तद्नुरूप फसलों के प्रकार के आधार पर राजस्व की वसूली तीन चरणों में की जाती थी। अतः *खरीफ* फसल का राजस्व किश्तों में वसूल किया जा सकता था।

रबी फसलों की कटाई कम अवधि में हो जाती थी। अधिकारी फसल की कटाई और उसे खेतों से हटाए जाने से पहले राजस्व वसूल करने का प्रयत्न करते थे। 17वीं शताब्दी के अंत तक अधिकारी अपने उतावलेपन में फसल कटने से पूर्व ही राजस्व की मांग करने लगे और यहां तक कि राजस्व न मिलने पर फसल काटने से भी रोकने लगे। इरफान हबीब टिप्पणी करते हैं: 'कटाई से पहले किसानों से राजस्व की मांग करना दमनात्मक कार्यवाई थी, क्योंकि उनके पास शायद ही कुछ बचा होता था। साथ ही साथ यह प्रथा एक सुचारू रूप से विकसित मुद्रा अर्थव्यवस्था का परिणाम थी क्योंकि इसके बिना इसका कार्यान्वयन संभव ही नहीं था। पदाधिकारी शायद यह उम्मीद करते थे कि किसान व्यापारियों और महाजनों के पास अपनी फसल बंधक रखकर ऋण ले सकते हैं।'

आमतौर पर *आमिल* या राजस्व संग्राहक राजकोष में राजस्व जमा किया करता था। अकबर ने किसानों को सीधे राजकोष में राजस्व जमा करने के लिए प्रोत्साहित किया। टोडरमल ने अनुमोदित किया था कि विश्वस्त गांवों के किसान एक समय सीमा के भीतर राजकोष में अपना राजस्व जमा कर सकते थे और रसीद ले सकते थे। ग्रामीण लेखपाल, *पटवारी*, अपने खातों में भुगतान की गई राशि को लिख लेते थे। इरफान हबीब का मानना है कि संभवतः धोखाधड़ी और गबन को रोकने के लिए प्रशासन द्वारा ये कदम उठाए जाते थे।

10.6 राजस्व में राहत रियायतें

अब्बास खां अपनी पुस्तक *तारीख-ए शेरशाही* में लिखता है, 'शेरशाह ने घोषणा की थी कि रियायत की अनुमति कर निर्धारण के समय दी जा सकती थी वसूली के समय नहीं'। औरंगजेब ने मुहम्मद हाशिम करोड़ी को *फरमान* जारी करते हुए निर्देश दिया था कि फसल कट जाने के बाद कोई रियायत नहीं दी जा सकती थी।

राजस्व निर्धारण का तरीका कुछ भी हो, खराब फसल होने पर सब में रियायत का प्रावधान था। *गल्ला बख्शी* और *कनकूत* पर विचार करते हुए हम जान चुके हैं कि उपज के अनुरूप ही राज्य के अंश में भी बढ़ोतरी और कमी होती थी। *ज़ब्ती* व्यवस्था में निर्धारण करते समय *नाबूद* क्षेत्र (जिस में फसल न हुई हो) को घटा कर बचे हुए क्षेत्र पर कर निर्धारण किया जाता था।

व्यवहारतः हर फसल पर पूरी राशि वसूल करना संभव नहीं था और हमेशा शेष राशि अगले साल की वसूली के लिए छोड़ दी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत या खेत छोड़कर भागे हुए किसानों की *बकाया* राजस्व राशि उनके पड़ोसियों से वसूलने की आम प्रथा प्रचलित थी। औरंगजेब ने *खालिसा* और *जागीर* भूमियों में इस प्रथा को रोकने के लिए 1674-75 में *हस्ब-उल*

हुक्म (राजकीय आदेश) जारी किया। उसका तर्क था कि किसी की *बकाया* राशि का जिम्मेदार किसी भी दूसरे किसान को नहीं ठहराया जा सकता था।

बीज और पशु खरीदने के लिए किसानों को *तकावी* (शाब्दिक अर्थः ताकत देने वाला) ऋण उपलब्ध कराया जाता था। अबुल फज़ल लिखता है, '*अमलगुजार* को साधनहीन किसानों को ऋण देकर सहायता पहुंचानी चाहिए।' टोडरमल ने सलाह दी थी कि असहाय परिस्थितियों से घिरे और बीज और पशुधन से रहित किसानों को *तकावी* ऋण दिया जाना चाहिए। ये ऋण ब्याजमुक्त होते थे और इन्हें फसल की कटाई के समय चुकाना होता था। यह अग्रिम राशि *चौधरियों* और *मुकद्दमों* के माध्यम से मिलती थी। अबुल फज़ल कहता है कि ऋण धीरे-धीरे वसूल करना चाहिए।

राज्य द्वारा खेती के विकास और विस्तार के लिए नए कुएं खोदे गए और पुराने कुओं की मरम्मत की गयी।

बोध प्रश्न-5

1) भू-राजस्व के भुगतान का माध्यम क्या था?

.....

.....

.....

.....

2) प्राकृतिक विपदा के समय किसानों को किस प्रकार रियायतें दी जाती थीं?

.....

.....

.....

.....

10.7 मुगलों का भू-राजस्व प्रशासन

खालिसा भूमि से संबद्ध राजस्व प्रशासन व्यवस्था के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। परन्तु *जागीर* प्रशासन के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। चूंकि *जागीरदारों* का स्थानांतरण दो या तीन वर्षों में हो जाता था, अतः उन्हें स्थानीय लोगों की राजस्व प्रदान करने की सामर्थ्य और स्थानीय प्रथाओं का कोई ज्ञान नहीं होता था। इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्हें स्थानीय अधिकारियों की सहायता लेनी पड़ती थी। राजस्व के क्षेत्र में हमें तीन प्रकार के पदाधिकारियों का पता चलता हैः

क) *जागीरदारों* के कर्मचारी और प्रतिनिधि;

ख) स्थाई स्थानीय पदाधिकारी जो अधिकांशतः अनुवांशिक होते थे। *जागीरदारों* के स्थानांतरण से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता था; और

ग) *जागीरदारों* की सहायता करने और उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए केन्द्रीय पदाधिकारी।

ग्रामीण स्तर पर अनेक राजस्व पदाधिकारी थेः

i) ***करोड़ीः*** 1574-75 में *करोड़ी* के पद का निर्माण किया गया। उसके कर्तव्यों का वर्णन करते हुए अबुल फज़ल कहते हैं कि वह राजस्व के निर्धारण और वसूली दोनों का प्रभारी था। शाहजहां के शासनकाल में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। अब प्रत्येक *महल* (राजस्व क्षेत्र) में *अमीनों* की नियुक्ति की गई और उन्हें कर निर्धारण का कार्य सौंपा गया। इस परिवर्तन से अब *करोड़ी* (या *आमिल*) का दायित्व *अमीन* द्वारा निर्धारित राजस्व को वसूल करने तक सीमित रह गया।

प्रांत का *दीवान करोड़ी* को नियुक्त करता था। यह आशा की जाती थी कि वह किसानों के हितों का ख्याल रखेगा। *करोड़ी* और उनके कर्मचारियों द्वारा वसूली गयी वास्तविक राशि की जांच गांव के *पटवारी* के कागजों की सहायता से की जाती थी।

ii) ***अमीनः*** *अमीन* दूसरा प्रमुख राजस्व पदाधिकारी था। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं *अमीन* का पद शाहजहां के शासन काल में निर्मित किया गया था। उसका मुख्य कार्य राजस्व निर्धारण करना था। उसकी भी नियुक्ति *दीवान* करता था। *करोड़ी* और *फौज़दार* के साथ-साथ वसूले गये राजस्व को सुरक्षित पहुंचाने की जिम्मेदारी भी उसकी थी। प्रांत का *फौज़दार, अमीन* और *करोड़ी* की गतिविधियों पर निगरानी रखता था। वह उनकी पदोन्नति की अनुशंसा भी किया करता था।

iii) ***कानूनगोः*** यह *परगने* का स्थानीय राजस्व पदाधिकारी था और आमतौर से वह लेखपाल या लेखा-जोखा करने वाले वर्गों या जातियों में से नियुक्त किया जाता था। यह अनुवांशिक पद था, परन्तु प्रत्येक नये व्यक्ति की नियुक्ति के लिए पृथक राजकीय आदेश आवश्यक था।

निगारनामा-ए मुंशी का लेखक *कानूनगो* को भ्रष्टाचार के लिए दोषी ठहराता है क्योंकि 'उन्हें स्थानांतरित या पदच्युत होने का कोई भय नहीं था'। लेकिन भ्रष्टाचार या कर्तव्य विमुखता का आरोप सिद्ध होने पर राजकीय आदेश से उन्हें हटाया भी जा सकता था। राजस्व रसीदों, भूमि के माप संबंधी आंकड़ों, स्थानीय राजस्व दरों और *परगने* के रीति-रिवाजों से संबद्ध कागजातों को व्यवस्थित करके रखना *कानूनगो* का मुख्य कार्य था। आमतौर पर यह माना जाता था कि *कानूनगो* को अगर पिछले सौ वर्षों का राजस्व आँकड़ा प्रस्तुत करने को कहा जाए, तो उसे ऐसा करने में सक्षम होना चाहिए।

जागीरदारों के प्रतिनिधि या कर्मचारी आमतौर पर स्थानीय परिस्थितियों से परिचित नहीं होते थे, वे आमतौर पर *कानूनगो* द्वारा दी गई जानकारी पर ही भरोसा करते थे। कानूनगो को पारिश्रमिक के रूप में कुल राजस्व का 1 प्रतिशत दिया जाता था, लेकिन अकबर ने उन्हें अलग वेतन देना आरंभ कर दिया था।

iv) ***चौधरीः*** यह भी *कानूनगो* के समान एक महत्वपूर्ण राजस्व पदाधिकारी था। अधिकांश मामलों में वह उस क्षेत्र का प्रमुख *ज़मींदार* होता था। उसका काम केवल कर वसूली में सहायता करना था। वह छोटे *ज़मींदारों* की जमानत भी दिया करता था।

चौधरी तकावी ऋण का बंटवारा करता था और उसके भुगतान की जिम्मेदारी भी लेता था। वह *कानूनगो* पर नियंत्रण रखने का कार्य भी करता था।

दस्तूर-उल अमल-ए आलमगीरी से पता चलता है कि *चौधरी* को कोई बहुत ज्यादा भत्ता नहीं दिया जाता था। परन्तु यह संभव है कि उसे काफी मात्रा में राजस्व मुक्त अनुदान (*इनाम* भूमि) मिलते थे।

v) ***शिकदारः*** शेरशाह के अधीन यह राजस्व प्रभारी था और कानून एवं व्यवस्था की देख-रेख करता था। ऐसा लगता है कि अकबर के शासन काल के उत्तरार्द्ध में वह *करोड़ी* का अधीनस्थ अधिकारी हो गया। अबुल फज़ल लिखता है कि आपात स्थिति में *शिकदार* भुगतान का आवश्यक अनुमोदन दे सकता था। बाद में उसे अपना अनुमोदन दरबार में प्रस्तुत करना होता था। अपने अधिकार-क्षेत्र में हुई चोरियों के लिए उसे ही जिम्मेदार ठहराया जाता था।

vi) ***मुकद्दम और पटवारीः*** *मुकद्दम* और *पटवारी* ग्रामीण स्तर के अधिकारी थे। *मुकद्दम* गांव का मुखिया होता था। अपनी सेवा के बदले में उसके द्वारा वसूले गये राजस्व में से 2.5 प्रतिशत हिस्सा उसे प्राप्त होता था।

पटवारी गांव की जमीन, प्रत्येक किसान द्वारा जोते जाने वाले खेतों, फसल के प्रकारों और बंजर भूमि का हिसाब-किताब रखता था। उसके बहीखाते में किसानों के नाम लिखे होते थे। *बितिकची* बही संबंधी जरूरी कागज और आँकड़े तैयार करता था जिसके आधार पर कर निर्धारण और वसूली होती थी।

प्रत्येक परगने में दो अन्य अधिकारी होते थे। *फोतेदार* या *खज़ानादार* (कोषपाल) और *कारकुन* या *बितिकची* (लेखपाल)। शेरशाह के शासन काल में दो कारकुन (लिपिक) नियुक्त किये जाते थे, एक हिंदी लिपिक और दूसरा फ़ारसी लिपिक। इनका प्रमुख कार्य आँकड़े तैयार करना था। लेकिन 1583-84 से लेखा के लिए केवल फारसी भाषा का उपयोग होने लगा।

फौजदार केन्द्रीय शासन की सैन्य और पुलिस शक्ति का प्रतिनिधित्व करता था। उसका एक मुख्य कार्य ***ज़ोरतलब*** (जिनके विरुद्ध राजस्व वसूल करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़े) *ज़मींदारों* और किसानों से राजस्व वसूल करने में *जागीरदार* या *आमिल* की सहायता करना था।

वक़ाया नवीस और *सवानिह निगार* (समाचार लेखक) का कार्य अनियमितताओं और दमनात्मक कार्यवाइयों से संबंधित मामलों को केन्द्र तक पहुंचना था।

बोध प्रश्न-6

1) *करोड़ी* के कार्यों और कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए:

i) *ज़ोरतलब ज़मींदार*: .....

.....

ii) *फोतेदार*: .....

.....

iii) *वक़ाया नवीस*: .....

.....

10.8 दिल्ली सुल्तानों की मुद्रा प्रणाली

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही मुद्रा अर्थव्यवस्था में बहुत वृद्धि हुई, जो विशेष रूप से 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बढ़ी। चूंकि, मुद्रा अर्थव्यवस्था में प्रगति का अर्थ सरल शब्दों में, लेन-देन या व्यापार में मुद्रा के अधिक प्रयोग से है (इसे मुद्रीकरण भी कहा जाता है), दिल्ली सल्तनत की स्थापना के उपरांत बड़ी मात्रा में सोने, चांदी और तांबे के सिक्कों को जारी करना, इसी भारतीय अर्थव्यवस्था के मुद्रीकरण की एक सहवर्ती प्रक्रिया थी।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पूर्व काल में सिक्कों, विशेष रूप से शुद्ध चांदी के सिक्कों, की कमी रहती थी। प्रारंभिक गौरी विजेताओं ने टकसालों को अत्यन्त कम मात्रा में चांदी-युक्त तांबे के सिक्कों को जारी करते पाया। प्रारंभ में, मुद्रित किए जाने वाले सिक्कों की संख्या को बढ़ाने के अतिरिक्त कोई परिवर्तन नहीं किए गए। सिक्कों पर देवी लक्ष्मी या बैल और घुड़सवार इत्यादि की प्रतिकृतियों का अंकन जारी रहा। केवल इसके ऊपर एक अशुद्ध रूप में नए शासक का नाम नागरी लिपि में उत्कीर्ण किया जाने लगा। इन सिक्कों को *देहलीवाल* कहा जाता था।

इल्तुतमिश (1210-36) को दिल्ली सल्तनत की मुद्रा के मानकीकरण का श्रेय दिया जाता है। उसके द्वारा स्थापित मुद्रा प्रणाली अपने सारभूत रूप में दिल्ली सल्तनत के काल में जारी रही। उसने सोने व चांदी के *तनका* और तांबे के *जीतल* सिक्के जारी किए। *जीतल* की संगणना उत्तर भारत में एक *तनका* के $\frac{1}{48}$ वें भाग से और देवगिरि की विजय के पश्चात् दक्खन में $\frac{1}{50}$ वें भाग से की जाती थी।

सोने व चांदी के मध्य 1:10 का एक निश्चित अनुपात स्थापित कर दिया गया था।

मुद्रा प्रणाली के अध्ययन हेतु ऐतिहासिक साक्ष्य ही नहीं वरन् अभी भी उपलब्ध सिक्कों के रूप में भौतिक प्रमाण (इन्हें मुद्रा-विषयक प्रमाण कहते हैं) भी मौजूद हैं।

सल्तनत टकसालों द्वारा सामान्य तौर पर तीन धातुओं के सिक्के जारी किए जाते थे: सोना, चांदी और बिलन (चांदी की सूक्ष्म मात्रा युक्त तांबा)। मुख्य सिक्के *तनका* और *जीतल* होते थे, परन्तु कुछ छोटी मुद्राएं भी प्रचलन में थीं। बरनी *दांग* और *दिरम* का वर्णन करता है जो राजधानी दिल्ली में प्रचलित थे। उत्तर भारत में निम्नलिखित मुद्राओं के मध्य समीकरण इस प्रकार था:

1 चांदी *तनका = 48 जीतल = 192 दांग = 490 दिरम*

बंगाल द्वारा प्रेषित सोना व चांदी, 13वीं शताब्दी के दौरान सिक्कों की ढलाई का मुख्य स्रोत था। उत्तर भारत और बाद में दक्खन के खजानों पर कब्जा, सोने व चांदी के सिक्कों की ढलाई में बहुत सहायक रहा।

सल्तनत की टकसालों ने न केवल सरकारी कोष के लिए सिक्के जारी किए बल्कि निजी व्यापारियों द्वारा लाए गए सोने-चांदी और विदेशी सिक्कों को भी मुदांकित किया।

अलाउद्दीन खलजी के शासन काल तक चांदी की मुद्राएं प्रमुख थीं। ग़ियासुद्दीन तुगलक के शासन काल से सोने और बिलन की तुलना में चांदी के सिक्कों की संख्या में गिरावट हुई। मुहम्मद तुगलक के अधीन सोने के सिक्के चांदी के सिक्कों पर छा गए और फिरोज़ तुगलक के अधीन चांदी के सिक्के लगभग लुप्त ही हो गए। 15वीं शताब्दी में बिलन सिक्के प्रचलन में प्रभावी रहे क्योंकि लोदी शासकों (1451-1526) द्वारा अन्य सिक्के जारी नहीं किए गए।

मुहम्मद तुगलक की प्रतीक-मुद्रा

इल्तुतमिश द्वारा प्रारंभ की गई मुद्रा प्रणाली में केवल एक अभिनव प्रयोग मुहम्मद तुगलक द्वारा किया गया था। सुल्तान ने तांबे व पीतल की मिश्र धातु का एक सिक्का जारी कर उसकी संगणना चांदी के *तनके* के बराबर घोषित की। इस सिक्के पर पहली बार फारसी में अभिलेख भी था। इस नई मुद्रा का प्रत्यक्ष मूल्य इसके मूलभूत मूल्य से (इसे बनाने में प्रयोगित धातु की कीमत) से कहीं अधिक था। इसलिए इसे प्रतीकात्मक मुद्रा कहा गया। पड़ोसी एशियाई साम्राज्यों में प्रतीक-मुद्रा को जारी करने के प्रयास हो चुके थे। चीन में कुबलई खाँ (1260-94) ने कागज की **प्रतीक-मुद्रा** जारी की और यह प्रयोग सफल रहा। ईरान में कैखत्तु खाँ (1293) ने भी प्रतीक-मुद्रा चलाने का प्रयास किया था, परंतु यह असफल रहा।

मुहम्मद तुगलक का प्रयोग भी पूर्णतः असफल रहा, शायद इसलिए कि इस नई मुद्रा की आसानी से नकल की जा सकती थी। बरनी अतिशयोक्तिपूर्ण ढ़ंग से लिखता है कि प्रत्येक 'हिन्दू' घर एक टकसाल बन गया (बरनी का 'हिन्दू' घरों पर यह आरोप शायद इसलिए था क्योंकि सोने-चांदी के कारीगर और सर्राफ अधिकांशतः हिन्दू थे)। तथापि, सुल्तान ने इस असफलता को सौम्यता के साथ स्वीकार किया और प्रतीक-मुद्रा को राजकोष द्वारा शुद्ध मुद्रा में बदल दिया गया।

बोध प्रश्न-7

1) प्रतीक-मुद्रा को जारी करने की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) सही कथन के आगे (✓) और गलत कथन के आगे (×) का चिह्न अंकित कीजिए:

क) अलाउद्दीन खलजी द्वारा सल्तनत की मुद्रा प्रणाली स्थापित की गई। ( )

ख) उत्तर भारत में चांदी का एक तनका 48 *जीतल* के बराबर था। ( )

ग) दक्खन में सिक्कों हेतु चांदी के मुख्य स्रोत स्थानीय शासकों के खजाने थे। ( )

घ) फिरोज़ तुगलक के शासन काल में चांदी के सिक्कों की संख्या सोने के सिक्कों से बहुत अधिक थी। ( )

10.9 मुगलों की मुद्रा व्यवस्था

मुगलों के शासन काल में मौद्रिक व्यवस्था पूरी तरह सुव्यवस्थित थी। इस समय धातुओं की शुद्ध ता बनाए रखने में काफी सफलता प्राप्त कर ली गयी थी।

10.9.1 मुद्रा प्रणाली

मुगल मुद्रा व्यवस्था को त्रिधातुक कहा जा सकता है अर्थात् तीन प्रकार के सिक्के ढाले जाते थे, तांबा, चांदी और सोना। लेकिन चांदी का सिक्का आधारभूत मुद्रा थी।

चांदी के सिक्कों का मुगलों से पहले का लंबा इतिहास है। दिल्ली सल्तनत में इसका प्रयोग किया गया और इसे *तनका* कहा गया। शेरशाह ने पहली बार चांदी के सिक्के का मानकीकरण किया। इसे *रुपया* कहा जाता था और इसका वजन 178 ग्रेन (ट्रॉय) होता था। (ट्रॉय वज़न मापने की अंग्रेजी प्रणाली थी जिसका प्रयोग सोने, चांदी और बहुमूल्य नगों के संदर्भ में किया जाता था। इसके अनुसार 1 पाउंड = 12 आउन्स = 5760 ग्रेन) ढलाई करने के लिए सिक्के में अन्य धातु भी मिलाई जाती थी जो सिक्के के कुल वजन के 4 प्रतिशत से अधिक नहीं होती थी। अकबर ने भी लगभग इसी वजन के साथ रुपया को आधार मुद्रा के रूप में अपनाया। औरंगजेब के शासन काल में *रुपया* का वजन बढ़कर 180 ग्रेन (ट्रॉय) हो गया। व्यापार और राजस्व आदि के लिए मुख्य रूप से चांदी के सिक्के का ही उपयोग किया जाता था।

मुगलों ने स्वर्ण मुद्राएं भी जारी कीं जिसे *अशरफी* या *मुहर* कहते थे। इसका वजन 169 ग्रेन (ट्रॉय) होता था। यह सिक्का मुख्य रूप से वाणिज्यिक लेन-देन में काम में नहीं लाया जाता था। इसे मुख्य रूप से संचय निधि के रूप में रखा जाता था और इसे उपहार देने के काम में भी लाया जाता था।

छोटे-मोटे लेन-देन में प्रयुक्त होने वाला आम सिक्का तांबे का *दाम* था जिसका वजन 323 ग्रेन हुआ करता था। संभवतः तांबे की आपूर्ति में कमी के कारण औरंगजेब के शासनकाल में तांबे के *दाम* का वजन एक तिहाई घटा दिया गया।

तटीय इलाकों में छोटे-मोटे खरीद-फरोख्त के लिए *कौड़ियों* (समुद्री सीपी) का उपयोग किया जाता था। ये मुख्य रूप से मालदीव द्वीपों से लायी जाती थीं। लगभग 2500 *कौड़ी* एक *रुपया* के बराबर होती थीं।

चांदी के *रुपया* के अलावा अन्य प्रकार के सिक्के भी उपयोग में लाए जाते थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण *महमूदी* था जो गुजरात का काफी पुराना चांदी का सिक्का था। यहाँ तक कि गुजरात में मुगल शासन की स्थापना के बावजूद इसकी ढलाई जारी रही और यह गुजरात में वाणिज्यिक लेन-देन में प्रयुक्त होता रहा।

विजयनगर साम्राज्य में *हूण* या *पगोडा* नामक सोने का सिक्का चला करता था। विजयनगर के विघटन के बाद बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में इसका उपयोग होता रहा। कई दक्खनी राज्यों में तांबे और चांदी की मिश्र-धातु का सिक्का *तनका* के नाम से उपयोग में आता रहा। दक्खन में मुगल शासन की स्थापना के बाद उस इलाके में मुगल चांदी के सिक्के की ढलाई के लिए कई टकसालें खोली गईं।

सिक्कों का विनिमय मूल्य

सोना, चांदी और तांबे के सिक्कों का विनिमय मूल्य बाजार में इन धातुओं की उपलब्धता के आधार पर बदलता रहता था। पूरे मुगल काल में सोने के सिक्के की तुलना में चांदी के सिक्के का मूल्य अधिक ऊपर नीचे होता रहा। एक सोने के सिक्के का मूल्य 10 से लेकर 14 रुपये तक बदलता रहा।

तांबे के सिक्कों के मामले में 1595 को आधार वर्ष बनाकर इरफान हबीब दिखाते हैं कि 1660 के दशक तक यह ढाई गुना ऊपर बढ़ा परन्तु 1700 तक आते-आते यह लगभग दोगुना हो गया (1595 की तुलना में) और फिर 1750 में लगभग 1660 के स्तर पर आ गया।

अकबर के शासन काल में लेन-देन की दृष्टि से 40 तांबे के *दाम* एक *रुपया* के बराबर होते थे। उसकी मृत्यु के बाद तांबे की दर में तेजी से वृद्धि होने के कारण यह अनुपात कायम नहीं रखा जा सका। चूंकि सभी भू-राजस्व निर्धारण और आकलन *दाम* में किए जाते थे अतः इसे *रुपये* की सिद्धांततः इकाई के रूप में उपयोग में लाना आवश्यक था। छोटे मूल्य के चांदी के सिक्कों को *आना* कहते थे। इसका भी उपयोग किया जाता था। यह *रुपये* का $\frac{1}{16}$वां हिस्सा होता था।

ऊपर हमने जो विवरण दिया है उसमें हमने मुगलों की मौद्रिक व्यवस्था के संबंध में विद्वानों के बीच हुए विवादों और जटिलताओं का जिक्र नहीं किया है। यहाँ हमने सरल ढंग से केवल मुगल मुद्रा प्रणाली की आधारभूत विशेषताओं को स्पष्ट करने की कोशिश की है।

10.9.2 मुद्रा ढलाई प्रणाली

मुगलों की 'मुक्त-मुद्रा प्रणाली' थी जिसके तहत कोई भी बहुमूल्य धातुओं को टकसाल में लाकर सिक्का ढलवा सकता था। केवल राज्य ही सिक्का जारी कर सकता था और कोई अन्य व्यक्ति उसे जारी नहीं कर सकता था। सिक्कों की शुद्धता बनाए रखने के लिए मानकीकरण का कड़ाई से पालन किया जाता था।

पूरे साम्राज्य में कई टकसालें स्थापित की गई थीं। ये टकसाल बड़े शहरों और बंदरगाहों में स्थापित की गई थीं ताकि आयातित बहुमूल्य धातुओं को आसानी से सीधे टकसाल पहुंचाया जा सके। प्रत्येक सिक्के पर ढलाई करने वाली टकसाल, ढलाई का वर्ष और शासक का नाम लिखा होता था।

चालू या पिछले वर्ष में ढाले गये नये सिक्कों को *ताज़ा* सिक्का (नये ढाले गये सिक्के) कहते थे। किसी सम्राट के शासनकाल में जारी और प्रचलित सिक्के को *चलनी* (वर्तमान) कहते थे। जबकि पिछले शासनकाल में ढाले गये सिक्के को *खज़ाना* के नाम से जाना जाता था। *ताजा* के अलावा अन्य सभी सिक्कों को उनके वास्तविक मूल्य से कम में आंका जाता था।

जारी किए गए वर्ष के बाद के वर्षों में सिक्के के मूल्य से कुछ खास राशि काट ली जाती थी। अगर कोई सिक्का एक वर्ष से अधिक प्रचलन में रहा तो 3 प्रतिशत काटा जाता था और यदि यह 2 वर्ष से ज्यादा पुराना होता था तो 5 प्रतिशत की कटौती की जाती थी।

समय के साथ-साथ सिक्के का वज़न घटने पर भी उसके मूल्य में कटौती की जाती थी। अबुल फज़ल कहता है कि अगर वज़न एक रत्ती से कम होता था तो इसे नजरअंदाज कर दिया जाता था और सिक्के को मानक माना जाता था। अगर वज़न में 1 से 2 रत्ती की कमी आती थी तो ढाई प्रतिशत की कटौती की जाती थी, और अगर यह कमी 2 रत्ती से भी ज्यादा हो जाती थी तो उसे केवल धातु (चांदी) के रूप में देखा जाता था।

इन सभी कटौतियों का निर्णय राज्य करता था परन्तु व्यवहार में *सर्राफ* (मुद्रा की जांच करने वाले) बाजार के आधार पर मनमाने ढंग से कटौतियाँ किया करते थे।

टकसालों की कार्य पद्धति

सिक्कों की ढलाई का इच्छुक कोई भी व्यक्ति धातु या पुरानी मुद्रा टकसाल लाकर सिक्कों की ढलाई करा सकता था। धातु की गुणवत्ता और शुद्धता की जांच की जाती थी। मुद्रा ढालकर व्यक्ति विशेष के सुपुर्द कर दी जाती थी। ढलाई के लिए निश्चित दर पर शुल्क लिया जाता था। ढाली गयी बहुमूल्य धातु का लगभग 5.6 प्रतिशत ढलाई शुल्क लिया जाता था।

इस ढलाई के काम को कई व्यक्ति और दस्तकार मिलकर किया करते थे।

दारोगा ए दारूल ज़र्ब टकसाल का मुख्य पदाधिकारी होता था। वह टकसाल के सभी कार्यों का समग्र निरीक्षण करता था। कई पदाधिकारी, निपुण कारीगर और कार्मिक उसकी सहायता करते थे। टकसाल द्वारा *सर्राफ* की नियुक्ति मूल्यांकनकर्ता के रूप में की जाती थी। उसे सिक्के की शुद्धता, वजन और समय की जांच और उनका मूल्य निर्धारण कर कटौती की राशि निश्चित करनी होती थी। *मुशरिफ* लेखे की देखरेख करता था। *तहवीलदार* प्रतिदिन लाभ का हिसाब रखता था और सिक्कों तथा बहुमूल्य धातुओं को सुरक्षित स्थान पर रखता था। *मुहरकान* (ढालने वाला) सिक्कों को ढालता और खांचे बनाता था। *वज़नकश* (वज़न लेने वाला व्यक्ति) सिक्कों का वज़न जांचता था। इसके अलावा *ज़र्राब*, (सिक्का निर्माता), *सिक्काची* (ठप्पा लगाने वाला) आदि कई कारीगर इन टकसालों में काम करते थे।

टकसालों की उत्पादन क्षमता के बारे में ठीक बताना मुश्किल है क्योंकि यह टकसाल के आकार और उस इलाके की वाणिज्यिक गतिविधियों पर निर्भर करता था जहां टकसाल स्थित होता

था। 17वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में सूरत की टकसाल में प्रतिदिन 30,000 सिक्के (*रुपया*) ढाले जाते थे। अज़ीज़ा हसन ने 16वीं-17वीं शताब्दी में सिक्कों को जारी किए जाने के विन्यास की चर्चा की है। उनके अनुसार प्रचलित *रुपयों* की संख्या 1591 और 1639 के बीच तिगुनी हो गई। 1639 के बाद गिरावट आई और 1684 तक यह 1591 सी ई में प्रचलित *रुपयों* के दुगने तक सीमित रह गए। 1684 के बाद यह पुनः बढ़ने लगी और 1700 में कुल संख्या 1591 की तुलना में तिगुनी हो गई।

टकसालों की अवस्थिति

अबुल फज़ल ने *आइन-ए अकबरी* में टकसालों की एक सूची दी है। उसके अनुसार बयालीस टकसालों में तांबे के सिक्के, चौदह में चांदी के सिक्के और चार में सोने के सिक्के ढाले जाते थे। 17वीं शताब्दी के अंत तक चांदी के सिक्के ढालने वाली टकसालों की संख्या बढ़कर चालीस हो गई।

एम. पी. सिंह ने कई मुद्रा संबंधी स्रोतों के आधार पर टकसालों की एक विस्तृत सूची बनाई है। उनके अनुसार बहुत से सिक्कों पर टंकित टकसालों के नाम न तो *आइन-ए अकबरी* में और न ही किसी अन्य साहित्यिक स्रोत में मिलते है। हम उनके द्वारा बनाई गई सूची नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

शासन काल	सोना चांदी और तांबा को ढालने वाली टकसाल	केवल सोने का सिक्का बनाने वाली टकसाल	केवल सोना और चांदी के सिक्के ढालने वाली टकसाल	सोना और तांबे के सिक्के ढालने वाले टकसाल	चांदी के सिक्के ढालने वाली टकसाल	चांदी और तांबा के सिक्के ढालने वाली टकसाल	केवल तांबे का सिक्का ढालने वाली टकसाल	कुल
अकबर	13	4	3	1	14	14	35	84
जहांगीर	6	2	7	—	11	3	3	32
शाहजहां	10	1	12	—	13	—	5	41
औरंगजेब	18	1	24	—	36	3	3	85

स्रोत : एम. पी सिंह, *टाउन, मार्केट, मिंट एंड पोर्ट इन द मुगल अम्पायर,* 1985, दिल्ली, पृ. 173.

बोध प्रश्न-8

1) मुगल मुद्रा व्यवस्था की प्रकृति पर संक्षेप में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) मुगलों की मुद्रा ढलाई व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

10.10 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय अर्थव्यवस्था पर दिल्ली सल्तनत के प्रभाव का अध्ययन किया। हमने देखा कि धीरे-धीरे किस प्रकार पहले से प्रचलित राजस्व वसूली और वितरण की व्यवस्थाएँ परिवर्तित हुईं, नकद लेन-देन बढ़ा, और शुद्ध चांदी के सिक्के प्रारंभ किए गए।

भू-राजस्व राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। अंग्रेज प्रशासक इसे जमीन का लगान समझते थे और मानते थे कि भूमि का मालिक राजा हुआ करता था। परन्तु बाद के अध्ययनों से पता चलता है कि कर फसल पर लगाया जाता था न कि भूमि पर।

मुगल भू-राजस्व व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

क) प्रत्येक क्षेत्र में भू-राजस्व की मात्रा अलग-अलग थी,

ख) भू-राजस्व के निर्धारण के लिए कई प्रकार की प्रणालियां अपनाई जाती थीं। हालांकि *ज़ब्ती* राजस्व निर्धारण की सर्वप्रमुख प्रणाली थीं, परन्तु *गल्ला बख्शी* और *कनकूत* जैसी प्रणालियां भी प्रचलित थीं,

ग) इस संदर्भ में महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अधिकांश मामलों में (कम से कम *ज़ब्ती* प्रांतों में) राजस्व नगद में वसूल किया जाता था। इस प्रकार मुद्रीकरण और बाजार अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला,

घ) प्राकृतिक विपदा के समय रियायतें दी जाती थीं। राज्य *नाबूद* भूमि पर छूट और *तकावी* नामक अग्रिम ऋण के रूप में रियायतें दिया करता था, और

ड.) भू-राजस्व प्रशासन से कई पदाधिकारी जुड़े हुए थे। इनमें *करोड़ी, अमीन, कानूनगो, चौधरी, शिकदार, फोतेदार, बितिकची, दीवान, फौजदार, वकाया नवीस, सवानिह निगार* आदि उल्लेखनीय हैं।

हमने दिल्ली सुल्तानों तथा मुगलों की मुद्रा प्रणाली की प्रकृति के बारे में भी पढ़ा। मुगल मुद्रा प्रणाली त्रिधातुक थी अर्थात् इसमें सोने, चांदी और तांबे के सिक्के का उपयोग होता था। मुगल मुद्रा प्रणाली मुक्त थी और कोई भी व्यक्ति बहुमूल्य धातु लेकर टकसाल से सिक्के ढलवा सकता था। पूरे साम्राज्य में टकसालों का जाल स्थापित किया गया था। इसमें शुद्धता और मानकीकरण के ऊंचे मानदंड का कड़ाई से पालन किया जाता था।

10.11 शब्दावली

बही	आँकड़ा-पुस्तक, लेखा पुस्तिका, पंजी
फवाज़िल	अधिशेष राजस्व
महसूल	अनुमानित राजस्व
प्रतीक मुद्रा	वह मुद्रा जिसका सांकेतिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से कहीं अधिक हो
उम्माल	*आमिल* का बहुवचन; राजस्व संग्राहक
ज़ोरतलब	विद्रोही (क्षेत्र अथवा पदाधिकारी)

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 10.3.1

2) a) ✓ b) × c) ×

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 10.3.3

2) a) देखें उप-भाग 10.3.3

b) देखें उप-भाग 10.3.3

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 10.4

2) देखें भाग 10.4

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 10.5.1

2) पहले *ज़ब्ती* को परिभाषित कीजिए। इसका उद्भव बताइए और फिर इसकी विशेषताओं और कमियों का उल्लेख कीजिए। देखें उप-भाग 10.5.1

3) विश्लेषण कीजिए कि मुगल कालीन भारत में राजस्व मांग एक समान नहीं थी। बताइये कि यह विभिन्न क्षेत्रों में कैसे भिन्न थी। देखें उप-भाग 10.5.2

बोध प्रश्न-5

1) देखें उप-भाग 10.5.3

2) राहत उपायों की प्रकृति का उल्लेख कीजिए। किस प्रकार के ऋण दिये जाते थे? *तकावी* ऋण क्या था? यह क्यों और किन शर्तों पर दिया जाता था? इन ऋणों के वितरण में कौन से अधिकारी संलग्न होते थे, आदि। देखें भाग 10.6

बोध प्रश्न-6

1) विश्लेषण कीजिए कि अकबर ने *करोड़ी* का पद क्यों स्थापित किया था? इस समय उसे क्या-क्या अधिकार दिये गये थे? बाद के शासकों के काल में उसके अधिकारों आदि कार्यों में क्या परिवर्तन आया? देखें भाग 10.7

2) देखें भाग 10.7

बोध प्रश्न-7

1) देखें भाग 10.8

2) a) × b) ✓ c) ✓ d) ×

बोध प्रश्न-8

1) देखें उप-भाग 10.9.1

2) देखें उप-भाग 10.9.2

10.13 संदर्भ ग्रंथ

फुकाज़ावा, एच., (1991) *द मिडिवल डेकन : पेज़ेन्ट्स, सोशल सिस्टम्स एंड स्टेट्स, 16 टू 18 सेंचुरी* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस)।

हबीब, इरफान, *मुगलकालीन भारत की कृषि व्यवस्था, 1556-1707* (हिंदी संस्करण).

हबीब, इरफान, (2016) *इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया ए डी 1206-1526* (दिल्लीः तूलिका बुक्स)।

रेचौधरी, तपन और इरफान हबीब, (1982) *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग 1 (दिल्लीः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस)।

10.14 शैक्षणिक वीडियो

मार्केट रेगुलेशन्स एंड इंडियन ओशन ट्रेड ड्यूरिंग द दिल्ली सल्तनत
https://www.youtube.com/watch?v=vD8I-Lb5Dps

एग्रीकल्चर एंड रुरल रेवेन्यु सिस्टम ड्यूरिंग द दिल्ली सल्तनत
https://www.youtube.com/watch?v=e8CxNH1NGBk

डिस्कोर्स ऑन मुगल इकॉनॉमी
https://www.youtube.com/watch?v=FOZaH2L6b0I

इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ मुगल इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=XM3Afvx-nag

इकाई 11 ग्रामीण समाज*

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 दिल्ली सल्तनत कालीन कृषि उत्पादन

11.2.1 फसलें तथा अन्य कृषि उत्पादन

11.2.2 नहरों द्वारा सिंचाई और उसका प्रभाव

11.3 13-14वीं शताब्दियों में कृषि संबंध

11.3.1 कृषक

11.3.2 ग्रामीण मध्यस्थ वर्ग

11.3.3 राजस्व मुक्त भू-अनुदान प्राप्तकर्ता

11.4 कृषि उत्पादनः मुगलकालीन

11.4.1 कृषि का विस्तार

11.4.2 कृषि और सिंचाई के साधन

11.5 मुगल कालीन फसलें

11.5.1 खाद्यान्न फसलें

11.5.2 नकदी फसलें

11.5.3 फल, सब्जी और मसाले

11.5.4 उत्पादकता और उपज

11.6 पशु और पशुधन

11.7 कृषि संबंधः मुगलकालीन

11.7.1 राजस्व मुक्त भू.अनुदान प्राप्तकर्ता

11.7.2 *ज़मींदार*

11.7.3 अन्य मध्यस्थ वर्ग

11.7.4 कृषक वर्ग

11.7.5 ग्रामीण समुदाय

11.7.6 कृषक वर्गों के अन्तर्सम्बन्ध

11.8 सारांश

11.9 शब्दावली

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.11 संदर्भ ग्रंथ

11.12 शैक्षणिक वीडियो

*प्रो. शीरीन मूसवी, सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. सुनीता ज़ैदी, डिपार्टमेंट ऑफ हिस्ट्री एंड कल्चर, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; और प्रो. ए. आर. खान, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी नेशलन ओपन यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली।

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ईएचआई-03: *भारतः आठवीं सदी ईसवी से पंद्रहवीं सदी ईसवी तक*, खंड 6, इकाई 19 और 20; और ईएचआई-04: *भारतः सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक*, खंड 5, इकाई 17 और खंड 6, इकाई 21 से ली गई है।

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम सल्तनत और मुगल कालीन कृषि अर्थव्यवस्था का अध्ययन करेंगे। हम यह भी मालूम करने का प्रयास करेंगे कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना से कृषि उत्पादन और कृषि संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ा? इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित की जानकारी प्राप्त कर सकेंगेः

- सल्तनत काल में कृषि योग्य भूमि का विस्तार, किसानों द्वारा उगाई जाने वाली फसलें, नहर सिंचाई और इसको प्रभाव को जानेंगे,
- सल्तनत कालीन कृषि संबंधों, पूर्ववर्ती ग्रामीण व्यवस्था में आये परिवर्तनों तथा अधीनस्थ ग्रामीण कुलीन तंत्र का अध्ययन करेंगे,
- मुगल काल में कृषि के प्रसार का उल्लेख कर सकेंगे,
- मुगलकाल में कृषि और सिंचाई के साधनों और तरीकों को रेखांकित कर सकेंगे,
- मुगलकाल में उपजाई जाने वाली प्रमुख फसलों की जानकारी दे सकेंगे,
- मुगलकाल में पशुधन तथा पशु पालन की स्थिति पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- भू-उत्पादन में हिस्सा पाने वाले विभिन्न वर्गों का उल्लेख कर सकेंगे,
- *ज़मींदार* और उनके अधिकारों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- विभिन्न प्रकार की कृषक श्रेणियों और ग्रामीण समुदाय का अवलोकन कर सकेंगे,
- अधिशेष उत्पादन में हिस्सा पाने वाले अन्य बिचौलियों का वर्णन कर सकेंगे, और
- विभिन्न कृषक वर्गों के आपसी सम्बन्धों को रेखांकित कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद कृषि उत्पादन अवस्था में बहुत क्रांतिकारी परिवर्तनों की आशा करना उचित नहीं होगा। हालांकि कुछ नई तकनीकों के आने से सिंचाई व्यवस्था में सुधार हुआ तथा नील और अंगूर जैसी कुछ फसलों का अधिक प्रसार हुआ जिन्हें **नकदी फसलें** (जिनकी बाजार में मांग हो) कहते हैं। वास्तव में महत्वपूर्ण परिवर्तन कृषि संबंधों के क्षेत्रों में दिखाई देते हैं। डी. डी. कोसाम्बी के अनुसार इन परिवर्तनों ने भारतीय 'सामंतवाद' में पहले से मौजूद तत्वों को अधिक प्रगाढ़ बनाने से अधिक कुछ नहीं किया जबकि मोहम्मद हबीब इन परिवर्तनों को इतना अधिक महत्वपूर्ण और प्रगतिशील मानते हैं कि उन्होंने इसे 'ग्रामीण क्रांति' का नाम दिया। भारत के विस्तृत भू-भाग में विभिन्न प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र हैं। इसके पूरे इतिहास में कृषि सर्वप्रथम उत्पादक गतिविधि रही है। मुगल काल में भी भू-भाग के विस्तृत क्षेत्रों में खेती की जाती थी। इस काल के भारतीय और विदेशी लेखकों द्वारा भारतीय मिट्टी की उर्वरता की प्रशंसा की गई है।

इस इकाई में हम कृषि के विभिन्न आयामों के साथ-साथ खेती के विस्तार अर्थात जोती जाने वाली भूमि पर भी विचार करेंगे। भारत में कई प्रकार की खाद्यान्न फसलें, फल, सब्जी और नगद फसलें उपजाई जाती थीं। हमारे लिए इन सभी पर विचार कर पाना संभव नहीं होगा अतः हम कुछ प्रमुख फसलों का ही उल्लेख करेंगे। खेती के तरीके के साथ-साथ खेती में काम आने वाले औजारों और सिंचाई तकनीक की भी चर्चा करेंगे। यहाँ हम मुगल नियंत्रण में पड़ने वाले क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ इसके नियंत्रण के बाहर आने वाले क्षेत्रों की भी चर्चा करेंगे। इस इकाई में हम भूमि और उसके उत्पादन पर विभिन्न वर्गों के अधिकारों पर विचार-विमर्श करेंगे। इन वर्गों के अंतर्संबंधों की भी चर्चा की जाएगी।

11.2 दिल्ली सल्तनत कालीन कृषि उत्पादन

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भूमि और व्यक्ति का अनुपात बहुत अनुकूल था (अर्थात् काफी मात्रा में भूमि उपलब्ध थी, और उस पर कृषि करने वालों की संख्या कम थी)। 1200 के आसपास भारत की जनसंख्या 1800 की तुलना में काफी कम थी। परन्तु यह कितनी कम थी इसके विषय

में हमें कोई ज्ञान नहीं है। इस समय के इस प्रकार के कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु ऐतिहासिक ग्रंथों से यह पता चलता है कि 16वीं शताब्दी की तुलना में 13वीं-14वीं शताब्दी में काफी कम क्षेत्र बसे हुए थे। गंगा-यमुना के दोआब के अत्यधिक उपजाऊ क्षेत्र में भी काफी बड़े-बड़े जंगल और चरागाह फैले हुए थे। 13वीं शताब्दी में सूफी संत निज़ामुद्दीन औलिया ने दिल्ली और बदायूँ के बीच यात्रियों को बाघों द्वारा परेशान करने का विवरण दिया है। बरनी के अनुसार 14वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में इतने घने जंगल थे कि बहुत बड़ी संख्या में किसानों ने सुल्तान की सेना से बचने के लिए यहां शरण ली। यहां तक कि बाबर के समय (1526-30) में भी मध्य भारत के जंगलों में कालपी और कानपुर के दक्षिण में यमुना के बीहड़ों के पार हाथी घूमते रहते थे। लेकिन अकबर के शासन के अंत तक (1605) मध्य दोआब के लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र में खेती होती थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली सल्तनत के काल में कृषि योग्य भूमि के ऐसे विस्तृत क्षेत्र मौजूद थे जिन पर कृषि नहीं होती थी।

इसलिए भूमि के ऐसे टुकड़ों पर नियंत्रण की अपेक्षा ऐसे व्यक्तियों पर नियंत्रण महत्वपूर्ण था जो कृषि करते थे। इस स्थिति का कृषि संबंधों पर प्रभाव का हम यथा स्थान अध्ययन करेंगे। हालांकि कृषि व्यवस्था को समझने के लिए भूमि और व्यक्ति का अनुपात भी बहुत महत्वपूर्ण है। भूमि के अनुकूल अनुपात होने का तात्पर्य है कि कृषि काफी व्यापक थी। विस्तृत कृषि का सीधा और सरल अर्थ यह है कि कृषि उत्पादन के बढ़ने का तात्पर्य था अधिक भूमि पर फसल बोना। जबकि दूसरी ओर सघन खेती का अर्थ है कृषि योग्य भूमि का न बढ़ना बल्कि उसी सीमित उपलब्ध भूमि पर अधिक निवेश द्वारा अधिक फसल पैदा करना। यह निवेश अधिक मजूदर, अधिक हल, अधिक उर्वरक और अतिरिक्त सिंचाई के साधनों के रूप में होता है। अतः कृषि योग्य भूमि के काफी मात्रा में उपलब्ध होने से दिल्ली सल्तनत में कृषि बहुत विस्तृत थी। बड़ी मात्रा में कृषि योग्य अतिरिक्त भूमि और खाली पड़ी भूमि का अर्थ था कि पशुओं के लिए काफी चारागाह उपलब्ध थे। *मसालिक-उल अबसार* नामक समकालीन ग्रंथ के लेखक के अनुसार भारत में पशुओं की संख्या काफी अधिक और मूल्य बहुत कम था। अफीफ के अनुसार दोआब में कोई भी गांव ऐसा नहीं था जहाँ पशुशाला न हो। इन पशुशालाओं को ***खरक*** कहा जाता था। बैलों की संख्या तो इतनी अधिक थी कि ढोने के लिए अनाज और अन्य सामान बैलगाड़ी के बजाय बैलों के ऊपर लादा जाता था।

11.2.1 फसलें तथा अन्य कृषि उत्पादन

दिल्ली सल्तनत की कृषि की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता किसानों द्वारा बड़ी संख्या में फसलें उगाना था। संभवतः दक्षिण चीन के अतिरिक्त विश्व के किसी अन्य भाग में इतनी बड़ी संख्या में फसलें नहीं उगाई जाती थीं। इब्न बतूता भारत में फसलों की इतनी बड़ी संख्या देखकर बहुत प्रभावित हुआ था। उसने दोनों प्रमुख फसलों ***खरीफ*** और ***रबी*** के मौसम की विभिन्न उपजों का विवरण विस्तार से दिया है। वह यह भी बताता है कि दिल्ली के आसपास के क्षेत्रों में दो फसलें पैदा की जाती थीं। इसका तात्पर्य है कि एक ही भूमि पर *खरीफ* और *रबी* दोनों फसलें पैदा होती थीं। थक्कर फेरू, जो अलाउद्दीन खलजी के समय दिल्ली की टकसाल का प्रमुख था, लगभग 1290 में करीब 25 फसलों के नाम गिनाता है और उनकी औसत उपज भी बताता है। उपज के बारे में हम निश्चित रूप से कुछ कहने में असमर्थ हैं क्योंकि फेरू माप-तौल की जिन इकाइयों का वर्णन करता है उनके विषय में हमें विस्तृत ज्ञान नहीं है। परन्तु उसके विवरण से विभिन्न फसलों के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है। खाद्यान अनाजों की फसलों में वह गेहूं, धान, मोटे अनाज (ज्वार, मोठ, आदि) तथा दालों (उड़द, मूंग, मसूर, इत्यादि) का विवरण देता है। जबकि नगदी फसलों में वह गन्ना, कपास, तथा तेल प्रदान करने वाली फसलों, तिल और अलसी आदि का वर्णन करता है।

इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शायद बढ़ी हुई सिंचाई सुविधाओं ने गन्ना और गेहूँ जैसी *रबी* (जाड़े की फसलों) फसलों के अधीन क्षेत्र बढ़ाने में मदद की होगी। 'तुर्की' विजेताओं के साथ गन्ने से मदिरा बनाने की विधि काफी बड़े क्षेत्र में लोकप्रिय हो गई। बरनी के अनुसार 14वीं शताब्दी तक दिल्ली के आसपास और दोआब के क्षेत्र में मदिरा बनाना एक ग्रामीण उद्योग के रूप में स्थापित हो गया। थोड़ी आश्चर्य की बात यह है कि थक्कर फेरू अपने विवरण में

नील की खेती के विषय में कुछ नहीं कहता जबकि नील के उत्पादन का संकेत इस बात से मिलता है कि इस समय काफी मात्रा में नील का निर्यात ईरान के लिए होता था। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ईरान में इल खान शासकों द्वारा नील की खेती को बढ़ावा दिया जा रहा था ताकि भारत पर निर्भरता समाप्त हो जाये। ऐसा लगता है कि नील बनाने के हौज़ में चूने-गारे के प्रयोग से सुधार होने के कारण नील की खेती को बढ़ावा मिला होगा।

इब्न बतूता के विवरण में हमें दिल्ली सल्तनत में फलों के उत्पादन के विषय में भी पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृषकों को फलों की 'कलम लगाने की तकनीक' का ज्ञान नहीं था। प्रारंभ में दिल्ली के अतिरिक्त केवल कुछ स्थानों पर ही अंगूर उगाये जाते थे। परन्तु अफीफ के अनुसार चौदहवीं शताब्दी में अंगूरों का उत्पादन इतना बढ़ गया कि इसके दाम गिर गए। संभवतः ऐसा दो कारणों से हुआः

i) मुहम्मद तुगलक की किसानों को सलाह कि वे लगातार अपनी फसलों में सुधार करें और गेहूं की जगह गन्ना और गन्ने की जगह अंगूर बोयें।

ii) फिरोज़ तुगलक द्वारा दिल्ली के आसपास सात प्रकार के अंगूरों की खेती के लिए 1200 बाग उगाना।

लेकिन भारतीय किसान इस काल में रेशम उत्पादन (रेशम के कीड़े पालने का काम) नहीं करते थे और इसी काल में वास्तविक रेशम के उत्पादन के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। केवल *टसर, एरी* और *मूगा* जैसे जंगली या अर्द्ध-जंगली (कीड़ों से बने) रेशम के विवरण मिलते हैं। पहली बार 1432 में चीनी नाविक मा हुआन बंगाल में रेशम के कीड़े पालने का विवरण देता है।

11.2.2 नहर-सिंचाई व्यवस्था और इसका प्रभाव

अधिकांशतः कृषि वर्षा अथवा नदियों द्वारा प्राकृतिक सिंचाई पर आधारित थी। चूंकि कृषि प्राकृतिक साधनों पर निर्भर थी अतः केवल वर्षा के पानी से उगाई जाने वाली *खरीफ* की फसल और मोटे अनाज उगाने की प्रवृत्ति अधिक थी।

समकालीन स्रोतों में हमें नहर द्वारा सिंचाई का विवरण भी मिलता है। दिल्ली सुल्तानों ने स्वयं सिंचाई के लिए नहरें खुदवाईं। नहरें बनाने वाला पहला सुल्तान ग़ियासुद्दीन तुगलक (1320-25) माना जाता है। लेकिन बाद में फिरोज़ तुगलक (1351-88) द्वारा बड़े पैमाने पर नहरें बनवाने का काम किया गया। फिरोज़ तुगलक ने यमुना नदी से हिसार पानी ले जाने के लिए दो नहरें बनवाईं: रजबवाह और उलुगखानी; दोआब में काली नदी से एक नहर खुदवाई जो दिल्ली के पास यमुना से मिलती थी, तथा एक-एक नहर सतलज और घग्घर नदी से निकलवाई। निश्चय ही, उन्नीसवीं शताब्दी से पहले यह नहरों का सबसे बड़ा जाल था।

नहरों द्वारा सिंचाई के कारण पूर्वी पंजाब में कृषि का बहुत विस्तार हुआ। अब गन्ने जैसी नगदी फसलों जैसे गन्ना, आदि के उत्पादन पर बहुत ध्यान दिया गया क्योंकि अन्य फसलों की तुलना में इसे सिंचाई की अधिक आवश्यकता होती थी। अफीफ के अनुसार भूमि का एक विशाल भाग जो लगभग 80 कोस/***कुरोह*** (200 मील) में फैला था, रजबवाह और उलुगखानी नामक दो नहरों से सींचा जाता था। अफीफ के अनुसार पूर्वी पंजाब में जहां पहले केवल एक फसल होती थी अब सिंचाई की सुविधाओं के कारण *खरीफ* और *रबी* की दो फसलें पैदा होने लगीं। इससे अब नहरों के किनारे कृषि बस्तियां बस गईं। नहरों से सिंचाई वाले क्षेत्र में लगभग 52 ऐसी बस्तियां बस गईं। अफीफ अत्यंत उत्साहपूर्वक कहता है, 'एक भी गांव उजाड़ नहीं रह गया और एक गज भूमि भी ऐसी नहीं बची जहाँ खेती न होती हो'।

बोध प्रश्न-1

1) दिल्ली सल्तनत में भूमि और मनुष्य के अनुकूल अनुपात का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

2) नहरों की सिंचाई पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन से कथन सही (✓) हैं और कौन से गलत (×):

i) मुहम्मद तुगलक ने सिंचाई के लिए बहुत सी नहरें बनवाईं। ( )

ii) सल्तनत काल में दोआब में दो फसलें उगाई जाती थीं। ( )

iii) तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भारतीय किसानों द्वारा रेशम के कीड़ों का पालन किया जाता था। ( )

11.3 13-14वीं शताब्दियों में कृषि संबंध

कृषि अर्थव्यवस्था के विषय में चर्चा के लिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद कृषि संबंधों की प्रकृति में क्या अंतर आया और यह अन्तर किस सीमा तक था। यह जानने के लिए 1200 से पहले की कृषि व्यवस्था समझना जरूरी हो जाता है। हम यहां इस बहस में नहीं पड़ेंगे कि उस समय के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को 'सामंती' व्यवस्था कह सकते हैं या नहीं परन्तु हम काफी विश्वसनीय रूप से कह सकते हैं कि गौरी के आक्रमण के समय शासक वर्ग का आधार ग्राम था। लगभग कुछ उसी रूप में जैसा कि उस समय का पश्चिमी यूरोप का सामंत अभिजात्य वर्ग था।

इतिहासकार मिन्हाज गौरी और आरंभिक सुल्तानों का प्रतिरोध करने वाले भारतीय शासक वर्ग को *राय* और *राना* तथा उनके घुड़सवार सेनानायकों को *रावत* नाम से संबोधित करता है। उत्तर भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त शिलालेखों के साक्ष्य के आधार पर *राजा* (*राय*), *रानका* (*राना*) तथा *राउत* (*रावत*) की सामंती पदानुक्रम व्यवस्था लगभग साबित हो चुकी है।

तुर्की शासन के आरंभिक काल में सुल्तानों ने इस पराजित और पराधीन ग्रामीण कुलीन वर्ग के साथ एक प्रकार का समझौता किया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि *खराज* मुख्य रुप से भेंट में वसूल की जाने वाली धनराशि थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन खलजी के काल में जब भेंट का स्थान किसानों पर सख्ती से लागू और वसूल किए जाने वाले भूमि कर ने ले लिया फिर भी कर की वसूली में पहले के ग्रामीण कुलीन वर्ग की एक निश्चित भूमिका रहती थी। अलाउद्दीन खलजी के काल की एक घटना इस विषय की ओर इंगित करती है। अफीफ के अनुसार जब दीपालपुर का *मुक्ती* (गवर्नर) गाज़ी मलिक वहाँ के राणा मल भाटी पर दवाब डालना चाहता था तो उस क्षेत्र के एक *राय* (राजा) ने मांग की कि वह पूरे वर्ष का भूमि कर नकद धन के रूप में तुरंत दे। जब राणा वह मांग पूरी न कर सका तो गाज़ी मलिक ने *मुकद्दमों* (ग्रामों के प्रधान) और *चौधरियों* को मारना-पीटना शुरू किया। इस घटना से यह पता चलता है कि पहले का कुलीन तंत्र हालांकि अब सत्ता में नहीं था और पराधीन था, परन्तु कम से कम 14वीं शताब्दी के प्रारंभ तक, अपने क्षेत्र के भूमि कर की वसूली करने का अधिकार रखता था। ग्राम प्रमुख और *चौधरी* की सहायता से सीधे कर वसूल करने का अधिकार प्रशासन के पास भी था।

11.3.1 कृषक

कृषि उत्पादन कृषकों द्वारा भूमि के पृथक-पृथक भागों पर किया जाता था। परन्तु यह कृषक अर्थव्यवस्था समतावादी नहीं थी। किसानों का स्वामित्व भूमि के भिन्न-भिन्न आकार के भागों पर था। बरनी के विवरण के अनुसार एक ओर तो बड़े भू-भागों के मालिक *खोत* और *मुकद्दम* थे जबकि दूसरी ओर भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों का स्वामी *बलाहार* था जो गांव में निम्न कोटि का माना जाता था। विभिन्न प्रकार के किसानों के नीचे बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर रहे होंगे परन्तु उनकी उपस्थिति के बारे में स्पष्ट जानकारी बाद के स्रोतों में मिलती है समकालीन ग्रंथों में नहीं।

कृषि योग्य भूमि की प्रचुरता होने के बावजूद भी कृषक जिस भूमि को जोतता था 'उस पर शायद ही उसके स्वामित्व के अधिकार का प्रश्न था'। इसके विपरीत वह जो फसल उगाता था उस पर उच्च वर्गों के निश्चित अधिकार थे। हालांकि किसान को जन्म से स्वतंत्र स्वीकार किया जाता था परन्तु बहुधा उसे अपनी इच्छानुसार स्थान बदलने या भूमि छोड़कर जाने के अधिकार से वंचित रखा जाता था।

अफीफ के अनुसार एक गांव में लगभग 200 से 300 पुरुष होते थे। बरनी के अनुसार प्रत्येक गांव में हिसाब-किताब रखने के लिए एक *पटवारी* होता था। उसके बही-खाते से उस प्रत्येक वैध और अवैध भुगतान का पता चल सकता था जो किसान राजस्व अधिकारियों को देते थे। *पटवारी*, एक सरकारी कर्मचारी नहीं बल्कि ग्राम का अधिकारी होता था। निश्चय ही इस पद का प्रारंभ दिल्ली सल्तनत द्वारा नहीं किया गया था। इस प्रकार से एक ग्राम अधिकारी या लिपिक के होने से ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रशासनिक इकाई के रूप में गांव का अस्तित्व दिल्ली सल्तनत के प्रशासन से बाहर था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण गांव से भूमि कर का भुगतान एक संयुक्त इकाई के रूप में होता था अन्यथा सम्पूर्ण गांव का लेखा-जोखा रखने के लिए एक लिपिक की क्या आवश्यकता थी। इस प्रकार *पटवारी* का होना और उसके कार्यों की प्रकृति एक ग्रामीण समुदाय की उपस्थिति का भी आभास देता है। अलाउद्दीन खलजी द्वारा प्रत्येक किसान पर पृथक भूमि कर निर्धारण के प्रयासों के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहारिक रूप से भूमि कर के भुगतान के लिए गांव एक इकाई के रूप में माना जाता था। बरनी की यह शिकायत कि 'अमीर का भार गरीब पर पड़ता है' भी यह दिखाती है कि ग्राम समुदाय एक आदर्श संस्था न होकर शोषण का एक यंत्र थी।

11.3.2 ग्रामीण मध्यस्थ वर्ग

खोत, मुकद्दम और *चौधरी* ग्रामीण कुलीन वर्ग का प्रमुख हिस्सा थे। यह वर्ग किसानों के उच्च वर्ग से संबंधित था। बरनी के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के कृषि संबंधी उपायों से पहले इस वर्ग के पास कर मुक्त भूमि होती थी। एक वर्ग के रूप में ग्राम प्रमुखों का वर्ग बहुत समृद्ध था। बरनी विद्वेषपूर्ण प्रसन्नता से लिखता है कि अलाउद्दीन ने इस वर्ग (*खोत, मुकद्दम* और *चौधरी*) पर पूरी मात्रा में भूमि कर लागू किया और गृह कर और *चराई* कर से उन्हें जो छूट मिली थी वह भी समाप्त कर दी। उसने उन्हें अपनी ओर से कोई कर लगाने के लिए मना कर दिया और इस प्रकार इस (विशिष्ट) वर्ग को सामान्य किसानों के बराबर बना दिया।

लेकिन चूंकि यह ग्रामीण मध्यस्थ वर्ग भूमि कर की वसूली के लिए महत्वपूर्ण था इसलिए इनके विरूद्ध यह कठोर कदम अधिक समय तक नहीं चल सके और ग़ियासुद्दीन तुगलक ने पुनः संतुलन स्थापित किया। सबसे पहले उन्हें चराई कर और स्वयं की भूमि पर कर देने से छूट मिल गई। परन्तु उन्हें किसानों पर अपनी ओर से उप-कर (cess) लगाने का अधिकार नहीं मिला। फिरोज़ तुगलक के काल में उन्हें अन्य कई छूटें भी प्राप्त हो गईं। रोचक बात यह है कि बरनी इन रियायतों और उससे इस वर्ग की बढ़ी हुई समृद्धि का वर्णन बड़े अनुमोदन के साथ करता है।

इस ग्रामीण मध्यस्थ वर्गों में *चौधरी* पद का उदय संभवतः चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसका उल्लेख मिन्हाज द्वारा या तेरहवीं शताब्दी के किसी भी अन्य स्रोत में नहीं हुआ है। इस शब्द का प्रयोग पहली बार चौदहवीं शताब्दी के मध्य में बरनी द्वारा किया गया है। इब्नू बतूता कहता है कि 'चौधरी एक सौ गांवों का प्रमुख था' जिसे वह *सदी* कहता है। लेकिन चौदहवीं शताब्दी के मध्य से गांवों के एक समूह के लिए प्रचलित शब्द *परगना* था। इतिहासकार इरफान हबीब के अनुसार संभवतः *चौधरी* गुर्जर-प्रतिहार और चालुक्यों के समय के अधिकारी *चौरासी* (चौरासी गांवों का एक समूह) का ही परिवर्तन नाम था हालांकि उसकी सत्ता और शक्ति काफी कम हो चुकी थी। फिरोज़ तुगलक के समय से इन सभी मध्यस्थ वर्गों को एक सामान्य पदनाम *ज़मींदार* के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा जो मुगल काल में बहुत अधिक प्रचलित हो गया।

11.3.3 राजस्व मुक्त भू-अनुदान प्राप्तकर्ता

जैसा कि आप जानते हैं, धार्मिक व्यक्तियों और संस्थाओं, जैसे *दरगाहों*, मस्जिदों और *मदरसों* एवं शासक वर्ग पर निर्भर अन्य ऐसे व्यक्तियों की देख-भाल राजस्व-आय के अनुदानों द्वारा होती थी। ये राजस्व अनुदान *मिल्क, इदरार*, और *इनाम* कहलाते थे। ये अनुदान सामान्य तौर पर न तो

वापस लिये जाते थे न ही हस्तांतरित किए जाते थे। परन्तु, सुल्तान को इन अनुदानों को रद्द करने का अधिकार था। ऐसा कहा जाता है कि अलाउद्दीन खलजी ने लगभग सभी अनुदानों को निरस्त कर दिया था। ग़ियासुद्दीन तुगलक द्वारा भी बड़ी संख्या में अनुदानों को रद्द किया गया। लेकिन, फिरोज़ तुगलक ने यह नीति बदलकर न केवल पहले प्रारंभ किए गए सभी अनुदानों को फिर से जारी किया, बल्कि नए अनुदान भी स्वीकृत किए। सुल्तान की इस उदारता के बावजूद, अफीफ द्वारा प्रदत्त आँकड़ों के अनुसार इन अनुदानों का कुल योग, कुल अनुमानित राजस्व आय (***ज़मा***) का लगभग $\frac{1}{20}$वां भाग था। अमीरों ने भी अपने स्वयं के *इक्ताओं* से राजस्व अनुदान प्रदान किए। उल्लेखनीय है कि सुल्तान ये अनुदान न केवल *खालिसा* बल्कि *इक्ता* क्षेत्रों में भी प्रदान करते थे। इन अनुदानों में खेती की जाने वाली और साथ ही कृषि योग्य भूमि, जहाँ पैदावार उत्पन्न नहीं की गई हो, सम्मिलित थी।

बोध प्रश्न-2

1) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर लगभग 50 शब्दों में टिप्पणी लिखिएः

   क) ग्राम समुदाय .....
   .....

   ख) *चौधरी* .....
   .....

   ग) *पटवारी* .....
   .....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों पर सही (✓) और गलत (×) के निशान लगाइएः

   i) दिल्ली सल्तनत के काल में किसानों के उत्पाद पर उच्च वर्गों का कोई अधिकार नहीं था। ( )

   ii) *पटवारी* गांव का ऐसा कर्मचारी था जो बही-खाते रखता था। ( )

   iii) गांव में निम्न स्तर पर *बलाहार* था जो भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों का स्वामी था। ( )

11.4 कृषि उत्पादन : मुगल कालीन

आप पायेंगे कि मुगल काल में साम्राज्य के राजस्व संसाधनों को बढ़ाने के प्रयत्न में कृषि क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार हुआ; राज्य द्वारा नहरों की खुदाई द्वारा विशाल नहरों का संजाल स्थापित किया गया; और भारत में पुर्तगालियों द्वारा नवीन विश्व से लाई गई कई नवीन फसलों के उत्पादन का प्रारम्भ हुआ।

11.4.1 कृषि का विस्तार

विस्तृत आंकड़ों के अभाव में जोती जाने वाली कुल भूमि का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी उपलब्ध आंकड़ों की सहायता से मुगल काल में खेती की जाने वाली भूमि का एक अंदाज लगाया जा सकता है।

अबुल फज़ल ने अपनी कृति *आइन-ए अकबरी* में बंगाल, थट्टा और कश्मीर को छोड़कर उत्तर भारत के सभी मुगल प्रांतों से संबद्ध क्षेत्रीय माप के आँकड़े प्रस्तुत किए हैं। दिल्ली, आगरा, अवध, लाहौर, मुल्तान, इलाहाबाद और अजमेर जैसे अधिकांश प्रांतों के मामले में प्रत्येक *परगना* (कुछ अपवादों को छोड़कर) के लिए अलग से आँकड़े उपलब्ध हैं।

आइन-ए अकबरी में दिए गए आँकड़े 1595 के आसपास के हैं। 1686 की लेखा संबंधी एक नियम पुस्तिका में 17वीं शताब्दी के विभिन्न प्रांतों के क्षेत्र संबंधी आँकड़े उपलब्ध हैं। *चहार गुलशन* (1739-40) नामक ऐतिहासिक कृति में भी ये आँकड़े पुनः प्रस्तुत किए गए हैं। इस नियम-पुस्तिका में प्रत्येक प्रांत के मापित क्षेत्र के आँकड़े दिए गए हैं। प्रत्येक प्रांत में गांवों की कुल संख्या दी गई है इसमें मापित और गैर-मापित गांवों की संख्या भी उपलब्ध है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है *आइन-ए अकबरी* में अधिकांश मामलों में प्रत्येक *परगना* का क्षेत्र संबंधी आँकड़ा दिया गया है पर यह कहना मुश्किल है कि *परगना* के कितने क्षेत्र को वास्तविक रूप में मापा गया था। औरंगजेब के शासनकाल से मिले आँकड़ों से तस्वीर ज्यादा स्पष्ट रूप में उभरती है। इनसे पता चलता है कि 1686 तक लगभग पचास प्रतिशत गांवों को मापा नहीं गया था।

औरंगजेब के शासनकाल के उपलब्ध आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि इस काल में *आइन* (1595) की तुलना में मापित इलाके का फैलाव बढ़ा था। पर यह कहना मुश्किल है कि मापी गयी भूमि में यह बढ़ोतरी खेती के विस्तार के कारण हुई थी। ऐसा भी हो सकता है कि पहले आँकड़ों में कुछ खेती होने वाली भूमि की माप शामिल नहीं थी और बाद में इस भूमि को माप कर आँकड़ों में शामिल कर लिया गया हो।

विद्वानों के बीच यह विवाद का विषय है कि इन माप संबंधी आँकड़ों से वस्तुतः क्या परिलक्षित होता है। इनसे उठने वाले कुछ प्रश्न हैं: क्या इन आँकड़ों से वास्तविक रूप से जोती गई भूमि का पता चलता है, या कुल खेती योग्य भूमि या कुल मापे गये क्षेत्र का बोध होता है। डब्ल्यू. एच. मोरलैंड का मानना था कि ये आँकड़े उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें फसल बोई जाती थी।

इरफान हबीब का मानना है कि इसमें कृषि योग्य ऐसी भूमि जिसमें कुछ बोया नहीं गया हो तथा रिहाइशी इलाके, झील, तालाब, जंगल के कुछ भागों आदि को भी शामिल किया गया होगा। शीरीन मूसवी, इरफान हबीब के मत का समर्थन करती हैं और गणना करके बताती हैं कि मापे गये इलाके में दस प्रतिशत खेती योग्य परती जमीन भी शामिल होती थी। लेकिन वे यह महसूस करती हैं कि इस दस प्रतिशत को निकालने के बावजूद शेष क्षेत्र को कुल फसल क्षेत्र के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि खेती की जाने वाली भूमि का काफी हिस्सा मापा नहीं जा सका था। उनका यह भी मानना है कि *खरीफ* और *रबी* फसलों की भूमि को कई बार अलग-अलग मापा जाता था और बाद में दोनों को जोड़कर मापा गया क्षेत्र अंकित किया जाता था।

इस स्थिति में, खेती के प्रसार को जानने के लिए मुगल काल के केवल माप संबंधी आँकड़ों से बहुत मदद नहीं मिलती है। इरफान हबीब और शीरीन मूसवी ने कुछ राजस्व प्रपत्रों में उपलब्ध विस्तृत आँकड़ों, *जमा* (अनुमानित राजस्व) आँकड़ों और **दस्तूर दरों** (नगद राजस्व दरों) जैसे स्रोतों का भी सहारा लिया है। इन्होंने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में वास्तविक जोती गई भूमि के आँकड़ों से इनकी तुलना की है।

उनके प्राक्कलन के अनुसार 16वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के बीच खेती की गई भूमि का फैलाव लगभग दोगुना हो गया। बिहार, अवध और बंगाल के कुछ भागों में जंगलों को साफ करने से खेती योग्य भूमि में विस्तार हुआ। पंजाब और सिंध में नहर सिंचाई व्यवस्था के विकास होने से भी खेती का विस्तार हुआ।

11.4.2 कृषि और सिंचाई के साधन

मिट्टी की प्रकृति और फसलों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए भारतीय किसान कई प्रकार के औजार और तकनीकों का सहारा लिया करते थे। इसी प्रकार, विभिन्न प्रांतों में सिंचाई के विभिन्न साधन उपलब्ध थे।

खेती के साधन और तरीके

प्रमुख रूप से हल में दो बैलों को जोतकर खेत जोता था। हल लकड़ी का बना होता था जिसमें **लोहे का फाल** लगा होता था। यूरोप की तरह भारत में घोड़ों या बैल द्वारा खींचे जाने वाले पहियेदार हल और सांचा-पट्टे (mould board) का उपयोग नहीं होता था। भारत में क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कारण हल के आकार और वजन में फर्क होता था। हलके हल (इतने हलके जिन्हें किसान अपने कंधों पर भी उठा सकता था) से लेकर काफी भारी हलों का उपयोग किया जाता था। कड़ी मिट्टी के लिए अधिकांशतः भारी हलों को प्रयोग होता था। हलकी मिट्टी वाले क्षेत्र में हल के फाल में लोहा नहीं लगाया जाता था क्योंकि लोहे की कीमत भी ज्यादा होती

थी। कई समकालीन यूरोपीय यात्रियों ने यह देखकर आश्चर्य प्रकट किया है कि भारतीय हलों द्वारा केवल मिट्टी को उलट दिया जाता था और गहरी जोताई नहीं की जाती थी। ऐसा लगता है कि यह भारतीय महाद्वीप के अनुकूल था क्योंकि गहरी जोताई करने से मिट्टी की नमी कम होने का खतरा रहता था। इसके अलावा केवल ऊपरी सतह ही अधिक उपजाऊ होती थी।

मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए अलग तरीका अपनाया जाता था। इस कार्य के लिए *पटेला* कही जाने वाले लकड़ी के तख्ते का प्रयोग किया जाता था। हल की तरह इस चपटे तख्ते को भी दो बैलों की सहायता से खींचा जाता था। आमतौर पर वजन डालने के लिए इस पर एक आदमी खड़ा हो जाता था। खेत में *पटेला* को बैल खींचते थे।

बीजारोपण का काम आमतौर से बीजों को खेत में हाथ से छिटक कर किया जाता था। सोलहवीं शताब्दी में तटीय क्षेत्रों में बारबोसा धान रोपने के लिए एक प्रकार के बीज बरमे (seed drill) के उपयोग का विवरण देता है।

कृत्रिम तरीकों से मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया जाता था। दक्षिण में बकरों और भेड़ के झुंडों का इस कार्य के लिए खूब उपयोग किया जाता था। आमतौर पर इन पशुओं के झुंड को रात भर के लिए खेत में छोड़ दिया जाता था जहाँ वे अपना मल त्याग करते थे और यह अच्छी खाद का काम करता था। यह माना जाता था कि अगर 1000 का झुंड एक *कानी* खेत (1.32 एकड़) में पांच-छह दिन व्यतीत करे तो यह अगले छह-सात वर्षों के लिए खेत को उपजाऊ रखने के लिए उपयुक्त होता था (*कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग 1: 231)। इसी प्रकार की प्रथा आमतौर पर उत्तर भारत में भी प्रचलित थी। तटीय प्रदेशों में मछली की खाद भी उपयोग में लायी जाती थी।

पूरे वर्ष भूमि का अधिकतम उपयोग करने के लिए फसलों को बदल-बदल कर उगाया जाता था। मिट्टी की उत्पादकता की दृष्टि से भी इसे अच्छा माना जाता था। परम्परागत अनुभव से किसान फसल को बदल-बदलकर बोने की सार्थकता से परिचित हो चुके थे। वे यह निर्णय किया करते थे कि अच्छे उत्पादन के लिए किस फसल के बाद कौन सी फसल लगाई जानी चाहिए।

फसल काटने के लिए अर्द्ध-वृत्ताकार हंसुए का उपयोग किया जाता था।

अनाज को अलग करने के लिए काटी गई फसल को जमीन पर फैला दिया जाता था। हमारे स्रोतों में इस फसल से दाना अलग करने के दो तरीकों का जिक्र मिलता है: पहले तरीके में फसल को डंडे से पीटा जाता था, दूसरे तरीके में फैली हुई फसल पर जानवरों को घुमाया जाता था। जानवरों के भार और चलने-फिरने से अनाज फसल की बाली से अलग हो जाता था।

अलग किया हुआ अनाज टोकरी में भर दिया जाता था और एक नियंत्रित गति के साथ उसे गिराया जाता था। हवा के प्रभाव से भूसा बिखर जाता था और अनाज जमीन पर गिर जाता था।

सिचांई के साधन

भारतीय कृषि बहुत हद तक वर्षा पर निर्भर करती थी। किसी क्षेत्र विशेष में फसलों को लगाने से पहले वर्षा के जल की उपलब्धता को मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था। वर्षा जल के अतिरिक्त सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उपयोग किया जाता था।

पूरे देश में कुएं द्वारा सिंचाई की जाती थी। कुएं से पानी को निकालने के लिए विभिन्न उपलब्ध तकनीकों का इस्तेमाल किया जाता था। यह तकनीक इस बात पर निर्भर करती थी कि कुआं कितना गहरा है।

इकाई 14 में पानी खींचने के कई तरीकों पर विचार किया गया है। यहाँ हम पानी खींचने के तरीकों का केवल संक्षेप में उल्लेख करने जा रहे हैं।

उत्तर भारत में कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के कुएं खोदे जाते थे। कच्चे कुएं अधिक टिकाऊ नहीं होते थे और इनमें हर साल कुछ खुदाई करनी पड़ती थी।

पक्के कुएं टिकाऊ होते थे और इन कुओं से पानी निकालने की तकनीक का आसानी से उपयोग किया जा सकता था। पक्के कुएं की दीवारें उठी होती थीं और उनके ऊपर एक घेरा या चबूतरा

बना होता था। कुओं की दीवारें बनाने के लिए पत्थर या ईंटों का प्रयोग होता था। इन कुंओं के बनाने में पकी हुई मिट्टी के वृत्ताकार घेरों या छल्लों को एक के ऊपर एक कुएं की गोलार्द्ध में बिठाया जाता था। इन्हें वृत्तीय कुएं (ring wells) भी कहते थे।

इन कुंओं से पानी खींचने के लिए अनेक तरीके अपनाए जाते थे।

i) रस्सी और बाल्टी के सहारे हाथों से पानी निकालना सबसे आसान तरीका था जिसमें किसी प्रकार के यंत्र की सहायता नहीं ली जाती थी। अपनी सीमित क्षमता के कारण इसका उपयोग बड़े खेतों की सिंचाई के लिए नहीं किया जा सकता था।

ii) दूसरे तरीके में कुंओं के ऊपर धुरी लगा दी जाती थी। धुरी में रस्सी और बाल्टी को लगा दिया जाता था और पहले तरीके की तुलना में शक्ति का उपयोग कर अधिक पानी निकाला जा सकता था। इन दोनों तरीकों का उपयोग घरेलू आपूर्ति और बहुत छोटे खेतों की सिंचाई के लिए किया जाता था।

iii) एक तीसरे तरीके में रस्सी और धुरी के तरीके से पानी निकालने में बैलों का भी उपयोग किया जाता था। इस प्रणाली में पशु शक्ति का उपयोग करने से बड़े क्षेत्रों की सिंचाई संभव हो सकी।

iv) चौथी प्रणाली, *ढेंकली*, में उत्तोलक (लीवर) सिद्धांत का उपयोग किया जाता था। इस प्रणाली के एक लम्बे पेड़ के तने या बांस को एक पेड़ की दो शाखाओं के बीच इस प्रकार फंसा देते हैं कि वह झूले के समान हो जाता था। उसके अगले सिरे पर बाल्टी कसकर रस्सी से बांध दी जाती थी और पिछले हिस्से में अगले भारी पत्थर लटका दिया जाता था। पिछले हिस्से का वजन पानी भरी बाल्टी से अधिक होता था। इसे मात्र एक आदमी चला सकता था।

v) पांचवीं प्रणाली में चक्के का उपयोग किया जाता था। आरंभ में चक्के के ऊपर घड़े लगा दिये जाते थे जिसे जानवर की सहायता से घुमाया जाता था। इस प्रकार के चक्के से केवल छिछले स्तर से ही पानी निकाला जा सकता था और कुओं के लिए इसका कोई उपयोग नहीं था।

चक्के या पहिए के परिवर्तित रूप का उपयोग कुएं से पानी निकालने के लिए भी किया जाता था। इसमें (*रहट*; Persian wheel) घड़ों की माला सी बनाई जाती थी और इसमें तीन चक्कों, गियर तकनीक और पशु शक्ति की सहायता ली जाती थी (विस्तृत विवरण के लिए **इकाई 14** देखें)। इसकी सहायता से बड़े खेतों में काफी मात्रा में पानी पहुंचाया जा सकता था। इससे गहरे कुओं से भी पानी निकाला जा सकता था। जटिल यंत्र और पशु शक्ति के उपयोग के कारण यह तरीका खर्चीला होता होगा। अतः इसका उपयोग सम्पन्न किसान ही किया करते होंगे।

पूरे देश में झीलों, तालाबों और जलाशयों का उपयोग एक समान होता था। दक्षिण भारत में यह अधिक लोकप्रिय प्रणाली थी। यहां नदियों के ऊपर बांध बनाए गए। इन जलाशयों का निर्माण व्यक्तिगत उद्यम से नहीं हो सकता था। अतः इस प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध कराना राज्य, स्थानीय सरदारों और मंदिर प्रबंधन की जिम्मेदारी थी। विजयनगर शासकों द्वारा बनवाई गई विशाल मडग झील उस समय की नागरिक अभियांत्रिकी का उत्तम नमूना थी। इसे तुंगभद्रा नदी को तीन तरफ से घेरकर बनाया गया था। इसके लिए तीन पहाड़ियों के बीच तीन बांध बनाए गए थे। भरी होने पर यह झील 10-15 मील लंबी थी। इन तीनों बांधों में बड़े-बड़े पत्थरों से निर्मित जलद्वार बने हुए थे।

राजस्थान में भी पानी जमा करने के लिए जलाशयों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता था। *आइन-ए अकबरी* के अनुसार मेवाड़ की धेबर झील 36 मील में फैली हुई थी। कहा जाता है उदय सागर 12 मील के क्षेत्र में फैला था; राजसमंद और जयसंमद 17वीं शताब्दी में मेवाड़ में बनी अन्य महत्वपूर्ण झीलें थी। मारवाड़ और आमेर प्रांतों में बांधों की सहायता से क्रमशः बालसमंद और मानसागर नामक जलाशयों का निर्माण किया गया।

लगभग सभी गांवों में जलाशय और झील बनी होती थीं जहाँ वर्षा का पानी एकत्र किया जाता था। हमारे स्रोतों से पता चलता है कि 1650 के दशक में मुगल प्रशासन ने खानदेश और बरार में सिंचाई के लिए बांध निर्माण करने हेतु किसानों को 40,000-50,000 रुपये तक अग्रिम राशि देने का प्रस्ताव रखा था। यह एक रोचक तथ्य है कि आज भी खानदेश में ऐसे छोटे बांधों का उपयोग किया जाता है और ये इस क्षेत्र की मोसम, गिरना, केन, पंजबरा, शिवान नामक पांच प्रमुख नदियों के बेसिन विस्तृत हैं।

उत्तरी मैदानी भागों में नहरों का उपयोग सिंचाई के प्रमुख साधन के रूप में किया जाता था। हम **उप-भाग 11.2.2** में चौदहवीं शताब्दी में सुल्तान फिरोज़ तुगलक द्वारा बनवाई गई नहरों के बारे में पढ़ चुके हैं। यह प्रवृत्ति मुगलों के काल में भी जारी रही। शाहजहां ने 150 मील लंबी फैज़ नहर बनवाई थी। इसके द्वारा यमुना का जल विस्तृत क्षेत्र में पहुंचाया जाता था। इसी प्रकार लाहौर के निकट रावी नदी से 100 मील लंबी नहर निकाली गई थी। पूरे सिंधु नदी के मुहाने में कई नहरों के अवशेष पाए जाते हैं। इरफान हबीब का मानना है कि मुगल नहरों में सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अक्सर आसपास के स्तर से ऊपर नहीं उठी होती थीं अतः उनसे की गई सिंचाई इस बात पर निर्भर करती थी कि उनसे कितना पानी निकाला जा सकता था। इस क्षेत्र में नहरों की संख्या लगातार बढ़ती रही। दक्षिण भारत में नहरों की जानकारी नहीं मिलती है।

बोध प्रश्न-3

1) मुगल कालीन भारत में कृषि उत्पादन का विस्तार कितना था?

.....

.....

.....

.....

2) मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए अपनाई गई तीन विधियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) खेतों की सिंचाई करने के लिए कुंओं से पानी निकालने की तीन विधियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

4) सिंचाई के काम में आने वाली चार झीलों या बांधों का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

11.5 मुगल कालीन फसलें

भारत के विस्तृत भू-भाग, विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और पर्यावरणीय वातावरण के कारण यहां कई प्रकार के कृषि उत्पादों का उत्पादन होता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन कृषि उत्पादों को तीन हिस्सों – खाद्यान्न फसल, नगदी फसल और फल, सब्जी और मसालों में बांटकर चर्चा करेंगे।

11.5.1 खाद्यान्न फसलें

उत्तर भारत की अधिकांश मौसमी फसलें दो प्रमुख फसल ऋतुओं *खरीफ* (शरद) और *रबी* (बसंत) में उगाई जाती थीं। कुछ किसान इनके बीच लघु अवधि की फसलें उगाकर कभी-कभी तीन फसलें भी उपजा लिया करते थे। प्रमुख *खरीफ* फसल धान या चावल और प्रमुख *रबी* फसल गेहूँ थी। दक्षिण भारत में इस प्रकार का विभाजन नहीं था जिसमें अलग मौसमों में अलग फसल उपजाई जाती हो। यहां सिंचित भूमि पर धान (चावल) की एक फसल जून-जुलाई से दिसम्बर/जनवरी और दूसरी फसल जनवरी/फरवरी से अप्रैल/मई तक उगाई जाती थी। उत्तरी आर्कोट में भूमि पर मई से सितम्बर/अक्टूबर तक सूखी फसलें (कुम्बु, लाल चना, घोड़ा चना और अरंडी) बोई जाती थीं और इन्हें अगस्त से दिसम्बर/जनवरी तक काटा जाता था, अगस्त/सितम्बर में रागी और चोलम तथा फरवरी/मार्च में धान की फसलें काटी जाती थीं (*कैम्ब्रिज इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* I: 229)।

गेहूँ और चावल पूरे देश की दो महत्वपूर्ण फसलें थी। अधिक वर्षा (40'' से 50'') वाले क्षेत्रों में धान का उत्पादन अधिक होता था। सम्पूर्ण उत्तर पूर्व, पूर्वी भारत (बिहार, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग), गुजरात का दक्षिणी तटीय प्रदेश और दक्षिण भारत प्रमुख धान उत्पादक क्षेत्र थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है दक्षिण भारत में चावल उत्पादन के *कुड्डापाह-कर* और *साम्ब-पेशनम्* दो प्रमुख मौसम थे। इनका नामकरण गर्मी और जाड़े के मौसम में उपजाए जाने वाले मुख्य धान के प्रकार पर आधारित था।

पंजाब और दक्खन के सिंचित इलाकों से भी धान की खेती की जानकारी मिलती है। प्रत्येक क्षेत्र में अलग किस्म का मोटा, साधारण और उच्च कोटि का धान या चावल उपजाया जाता था। बंगाल और बिहार क्षेत्रों में उच्चतम कोटि का चावल उपजाया जाता था।

चावल के समान गेहूँ के भी कुछ खास इलाके थे। पंजाब, सिंध, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और अन्य कम वर्षा वाले क्षेत्रों में गेहूं उपजाया जाता था। बिहार, गुजरात, दक्खन और यहां तक कि बंगाल के कुछ भागों में भी इसके उत्पादन का हवाला मिलता है।

इन दोनों फसलों के अतिरिक्त मध्य मैदानी भागों में जौ का खूब उत्पादन होता था। *आइन-ए अकबरी* में इलाहाबाद, अवध, आगरा, अजमेर, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान आदि में जौ के उत्पादन का उल्लेख मिलता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर गेहूँ वाले इलाकों में मोटा अनाज भी उपजाया जाता था। ज्वार और बाजरा दो प्रमुख मोटे अनाज की किस्में थीं।

विभिन्न प्रांतों में दालों के उगाए जाने की भी जानकारी मिलती है। इनमें चना, अरहर, मूंग, मोठ, उड़द और खीसाड़ी (अंतिम काफी मात्रा में बिहार और आधुनिक मध्यप्रदेश के इलाके में उपजाया जाता था) की दालें प्रमुख है। हालांकि अबुल फजल बताता है कि खीसाड़ी का सेवन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता था। आधुनिक शोध भी इसे प्रमाणित करते हैं।

काफी समय तक यह समझा जाता था कि 17वीं शताब्दी में भारत में मकई या मक्का का उत्पादन नहीं होता था। कुछ नए शोधों से यह साबित हो चुका है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजस्थान और महाराष्ट्र में निश्चित रूप से और संभवतः अन्य प्रांतों में भी यह उपजाया जाता था।

11.5.2 नगदी फसलें

मुख्य रूप से बाज़ार के लिए उपजाई जाने वाली फसलों को आमतौर पर नगदी फसल कहते थे। फारसी विवरणों में इन्हें *जिन्स-ए कामिल* या *जिन्स-ए आला* (सर्वोतम कोटि की फसल) कहा गया है। खाद्यान्न फसलों के विपरीत ये पूरे वर्ष खेतों में खड़ी रहती थीं। 16वीं-17वीं शताब्दी की नगदी फसलों में गन्ना, कपास, नील और अफीम प्रमुख थे। ये सभी फसलें भारत में पुरातन काल से उपजाई जा रही थीं। लेकिन 17वीं शताब्दी में शिल्प उत्पादन और वाणिज्यिक गतिविधियों के बढ़ने के कारण उनकी मांग में वृद्धि हुई थी। इस काल में इन वस्तुओं के लिए एक विशाल विदेशी बाज़ार का द्वार भी खुल गया। भारतीय किसानों ने बाज़ार की मांग को तेजी से पहचाना और इन फसलों के उत्पादन में इज़ाफा कर दिया।

इस काल में नगदी फसलों में सबसे ज्यादा खेती गन्ने की जाती थी। *आइन-ए अकबरी* के अनुसार आगरा, अवध, लाहौर, मुल्तान और इलाहाबाद के अधिकांश राजस्व क्षेत्रों (**दस्तूर प्रखंडों**) में गन्ना उगाया जाता था। बंगाल में उगाया जाने वाला गन्ना सर्वोतम कोटि का माना जाता था। 17वीं शताब्दी के दौरान मुल्तान, मालवा, सिंध, खानदेश, बरार और दक्षिण भारत के क्षेत्रों में भी गन्ना उपजाया जाता था।

इसके अलावा एक और नगदी फसल, कपास, पूरे भारत में उपजाई जाती थी। आधुनिक महाराष्ट्र, गुजरात और बंगाल के इलाकों में उस समय वृहद् पैमाने पर कपास की खेती की जाती थी। समकालीन स्रोत अजमेर, इलाहाबाद, अवध, बिहार, मुल्तान, थट्टा (सिंध), लाहौर और दिल्ली में भी इसके उत्पादन का हवाला देते हैं।

मुगलों के शासनकाल में नील (एक नगदी फसल) का भी बृहद् पैमाने पर उत्पादन होता था। इस पौधे से नील निकलता था जिसकी मांग भारत के साथ-साथ यूरोपीय बाज़ारों में भी थी। अवध, इलाहाबाद, अजमेर, दिल्ली, आगरा, लाहौर, मुल्तान और सिंध के *दस्तूर* प्रखंडों में नील उगाए जाने की सूचना मिलती है। गुजरात, बिहार, बंगाल, मालवा और दक्षिण भारत में कोरोमंडल और दक्खन में इसके उत्पादन का हवाला मिलता है। बयाना और सरखेज के उत्पाद् की मांग सबसे ज्यादा थी। आगरा के निकट बयाना में उगाई जाने वाली नील को उत्तम कोटि का माना जाता था और इसका मूल्य भी ज्यादा होता था। इसके बाद अहमदाबाद के निकट सरखेज में उपजाये जाने वाले नील का स्थान आता था और यह भी ऊंचे दामों पर बिकता था। खुर्जा और अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), सेहवान (सिंध) और तेलंगाना (दक्खन) में भी उच्च कोटि के नील का उत्पादन होता था।

भारत के कई भागों में अफीम की खेती होने की भी सूचना मिलती है। मुगल प्रांतों, बिहार और मालवा में अच्छी कोटि की अफीम का उत्पादन होता था। यह अवध, बिहार, दिल्ली, आगरा, मुल्तान, लाहौर, बंगाल, गुजरात और राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ में भी उगाया जाता था।

ऐसा लगता है कि कम अवधि में ही भारत में तम्बाकू का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। *आइन-ए अकबरी* में किसी *दस्तूर* प्रखंड या किसी अन्य क्षेत्र में इस फसल का उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसा लगता है कि 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली इसे अपने साथ भारत लाए। शीघ्र ही इसकी खेती देश के लगभग सभी भागों में होने लगी (खास कर सूरत और बिहार में)।

ऐसा प्रतीत होते है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कॉफी का उत्पादन शुरू हो गया था पर हमारे अध्ययन काल में चाय का उल्लेख नहीं मिलता है।

सन, रेशे वाला एक पौधा होता है जो मुगल साम्राज्य के मुख्य प्रांतों (अवध, इलाहाबाद, आगरा, लाहौर, अजमेर, आदि) में उपजाया जाता था।

बंगाल, असम, कश्मीर और पश्चिम तटीय प्रदेशों में रेशम का उत्पादन किया जाता था। हालांकि बंगाल मुख्य उत्पादन क्षेत्र था।

तिलहन खाद्यान्न के साथ-साथ नगदी फसल भी थी। इससे तेल निकाला जाता था। रेपसीड, अरंडी, अलसी प्रमुख तिलहन फसलें थीं। यह इलाहाबाद से लेकर मुल्तान और बंगाल सहित सभी प्रांतों में उपजाई जाती थी। तिलहन के अन्य प्रकारों को कम ही उपजाया जाता था।

11.5.3 फल, सब्ज़ी और मसाले

मुगल काल में बागवानी अपने चरम शिखर पर थी। मुगल सम्राटों और सामंतों ने भव्य फलोद्यान लगवाए थे। लगभग सभी प्रभावशाली कुलीनों के पास अपने शहर के बाहर एक बागान हुआ करता था। इन फलोद्यानों और निकुंजों को सावधानीपूर्वक योजनाबद्ध ढंग से निर्मित किया जाता था। आज भारत में उपलब्ध बहुत से फलों का आगमन 16वीं-17वीं शताब्दी में ही हुआ था। अनन्नास एक ऐसा ही फल है जो भारत में पुर्तगालियों द्वारा लैटिन अमेरिका से लाया गया था। कम समय में यह फल लोकप्रिय हो गया और पूरे भारत में बड़े पैमाने पर उगाया जाने लगा।

पपीता और काजू भी पुर्तगाली ही अपने साथ लेकर आए थे पर इसका विस्तार धीमी गति से हुआ। लीची और अमरूद का आगमन बाद में हुआ। काबुल से चेरी लाई गई और कलम लगाकर

इसे कश्मीर में उपजाया गया। कलम की तकनीक से कई फलों की किस्म में सुधार हुआ। कलम के द्वारा संतरा, तथा अन्य गलगल (नीबू फेमिली के फल), खूबानी, आम और अन्य कई फलों की किस्मों में सुधार लाया गया। नारियल केवल तटीय प्रदेशों में ही नहीं बल्कि अंदरूनी इलाकों में भी उगाया जाता था।

काबुल से खरबूजे/तरबूज़े और अंगूर के विभिन्न प्रकारों के बीज लाए गए और उन्हें सम्राटों और कुलीनों के बागीचों में सफलतापूर्वक उगाया गया। साधारण किस्म का खरबूजा/तरबूज़ किसानों द्वारा नदी के किनारे हर जगह उपजाया करता था।

कई तरह की सब्जियां पूरे देश में उपजाई जाती थी। उस समय उपयोग में आने वाली सब्जियों की लंबी सूची *आइन-ए अकबरी* में दी गयी है ऐसा लगता है कि आलू और टमाटर का आगमन 17वीं शताब्दी और उसके बाद हुआ।

शताब्दियों से भारत अपने मसालों के लिए जाना जाता था। भारत के दक्षिण तट से एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों को बड़े पैमाने पर मसाले का निर्यात किया जाता था। काली मिर्च, लौंग, इलायची का खूब उत्पादन होता था। अदरख और हल्दी भी बड़े पैमाने पर उपजाई जाती थी। डच और अंग्रेज इसे बड़ी मात्रा में खरीदकर निर्यात करते थे। केसर कश्मीर में उगाया जाता था जो अपने रंग और सुगंध के लिए जाना जाता था। पान का उत्पादन कई इलाकों में होता था। बिहार का मगही पान और बंगाल में उपजाए जाने वाले अन्य प्रकार प्रसिद्ध थे। तटीय प्रदेशों में सुपारी का भी उत्पादन होता था।

विशाल वन सम्पदा से भी कई महत्वपूर्ण वाणिज्यिक वस्तुएं प्राप्त होती थीं। लिग्नम (Lignum) का उपयोग दवा बनाने के लिए होता था और लाख बड़ी मात्रा में निर्यातित होता था।

11.5.4 उत्पादकता और उपज

शीरीन मूसवी ने मुगल भारत में फसल की उत्पादकता और प्रति बीघा उपज पर प्रकाश डाला है (मूसवी 1987, अध्याय 3)। इस भाग में हम उनके शोधों के आधार पर ही आपको निम्न जानकारी दे रहे हैं। *आइन-ए अकबरी* में फसल उपज की तालिका और *ज़ब्ती* प्रांतों (लाहौर, मुल्तान, आगरा, इलाहाबाद, अवध और दिल्ली) की राजस्व दरों का उल्लेख किया गया है। उच्च, मध्यम और निम्न कोटि की फसलों की उपज का अलग से उल्लेख किया गया है। इनके आधार पर औसत उपज निकाली जा सकती है। हालांकि अबुल फज़ल इन तीनों कोटियों के आधार के बारे में हमें कुछ नहीं बताता है। ऐसा लगता है कि कम उत्पादकता वाली फसल का संबंध गैर-सिंचित क्षेत्र से और शेष दोनों प्रकार की फसलों का संबंध सिंचित क्षेत्र से था।

शीरीन मूसवी ने 16वीं शताब्दी के प्राप्त आँकड़ों को आधार बनाकर कृषि उत्पादकता के क्षेत्र में रोशनी डाली है। उनके आकलन के अनुसार कुछ प्रधान फसलों की उपज (उच्च, मध्यम और निम्न उपज का औसत) इस प्रकार थीः

औसत फसल उपजः 1595-96
(*मन-ए अकबरी* प्रति *बीघा-ए इलाही*)

फसल	उपज	फसल	उपज	फसल	उपज
गेहूं	13.49	जौ	12.93	चना	9.71
बाजरा	5.02	ज्वार	7.57	कपास	5.75
गन्ना	11.75	सरसों	5.13	तिल	4.00

(स्रोतः ***इकॉनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर c.1595, ए स्टैटिस्टिकल स्टडी,*** पृ. 82)।

शीरीन मूसवी ने *आइन-ए अकबरी* में दी गयी उपज की तुलना 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आसपास की उपज के साथ की है। उनका मानना है कि इन दो कालों के बीच खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। हालांकि जहां तक नगदी फसलों का संबंध है इसमें 19वीं शताब्दी के दौरान उत्पादकता में निश्चित रूप से वृद्धि हुई थी।

11.6 पशु और पशुधन

हमारे काल के कृषि उत्पादन में पशुओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। हल जोतने और सिंचाई करने में उनसे सहायता ली जाती थी और उनके गोबर का उपयोग खाद के रूप में होता था। कृषि सम्बन्धी उत्पादन के अतिरिक्त दुग्ध उत्पादन में भी ये काफी योगदान देते थे। आमतौर पर किसान और कुछ खास जाति के लोग पशु पालन का कार्य करते थे।

कृषि कार्यों में बड़े पैमाने पर पशुओं के योगदान से पता चलता है कि पशुधन की संख्या भी काफी रही होगी। प्रति व्यक्ति भूमि के ऊंचे अनुपात के कारण चारागाह भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहा होगा। समकालीन यूरोपीय यात्री भारतीय खेतों में बड़ी संख्या में जानवरों की उपस्थिति का उल्लेख करते हैं। इरफान हबीब का मानना है कि आज की तुलना में मुगल भारत में प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या अधिक थी। कहा जाता है कि आम आदमी भी मक्खन और घी का उपयोग करता था, इससे भी बड़ी संख्या में पशुओं के होने का पता चलता है। बैलों का उपयोग बैलगाड़ी खींचने या भारवाही पशु के रूप में होता था। बंजारों (घुमंतु व्यापारी समुदाय) के पास सैंकड़ों-हज़ारों जानवर होने का उल्लेख मिलता है। भेड़ों और बकरियों को भी हज़ारों के झुंड में पाला जाता था।

बोध प्रश्न-4

1) छह मुख्य खाद्यान्न फसलों के नाम बताइए :
   1) ———————— 2) ————————
   3) ———————— 4) ————————
   5) ———————— 6) ————————

2) खाद्यान्न फसल, नगदी फसल और तिलहन फसल से आप क्या समझते हैं?
   .....
   .....
   .....
   .....

3) चार प्रमुख नगदी फसलों का उल्लेख कीजिएः
   1) ———————— 2) ————————
   3) ———————— 4) ————————

4) बाहर से भारत में लाए गए चार फलों का नाम बताइए?
   1) ———————— 2) ————————
   3) ———————— 4) ————————

11.7 कृषि संबंधः मुगल कालीन

इस भाग में हम मुगल काल में कृषि संबंधों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

11.7.1 राजस्व मुक्त भू-अनुदान प्राप्तकर्ता

एक तरफ *जागीरदारों* को उनके नगत वेतन के रूप में राजस्व अनुदान प्रदान किए जाते थे (विस्तृत अध्ययन के लिए देखें **इकाई 9**) दूसरी तरफ एक और समुदाय था जिसे जीवन यापन के लिए राजस्व अनुदान दिया जाता था। इस प्रकार का अनुदान राज्य के संरक्षण में रहने वाले धार्मिक व्यक्तियों, विद्वानों और साधन विहीनों को दिया जाता था।

इन अनुदानों को *सुयुरग़ाल* या *मदद-ए माश* (जीवन यापन के लिए सहायता) के नाम से जाना जाता था। इन अनुदानों की देखभाल *सद्र-उस सुदूर* के नेतृत्व में एक विभाग करता था। नगद सहायता को *वज़ीफा* कहा जाता था। *मदद-ए माश* अनुदान कुछ खास श्रेणी के लोगों को दिया जाता था। इस अनुदान को पाने वाले व्यक्ति का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था। वह

केवल नियत दर पर कुल उत्पादन में से राजस्व ले सकता था। अकबर ने इस प्रकार के अनुदान पर 100 बीघा प्रति व्यक्ति की सीमा लगा रखी थी। अकबर ने कृषि को बढ़ावा देने के लिए आधी खेती योग्य भूमि और आधी अनजुती या बंजर जमीन देने की प्रथा चलाई थी।

अनुदान प्राप्तकर्ता को पूरे जीवन के लिए अनुदान मिलता था और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अनुदान के नवीनीकरण के लिए आवेदन कर सकते थे। आमतौर पर उत्तराधिकारियों को अनुदान का एक अंश प्रदान किया जाता था। जहांगीर ने अकबर द्वारा दिए गये सभी अनुदानों का अनुमोदन करके नवीनीकरण किया, परन्तु शाहजहां ने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा प्रदत्त सभी अनुदानों का परीक्षण आरम्भ किया। उसने उत्तराधिकारियों को मिलने वाले अनुदान की सीमा 30 बीघा कर दी और औरंगजेब ने उसे घटाकर 20 बीघा कर दिया। अपने शासनकाल के तीसवें वर्ष में उसने सारे अनुदानों को अनुवांशिक कर दिया। इन अनुदानों को उसने एक प्रकार का ऋण (*अरियत*) माना न कि सम्पति। उसके शासनकाल के उत्तरार्द्ध में और उसकी मृत्यु के बाद अनुदान प्राप्तकर्ता जमीन को खरीदने, बेचने या हस्तांतरित करने लगे। इस कारण धीरे-धीरे इन अनुदानों का अधिकार क्षेत्र *ज़मींदारी* अधिकारों के समकक्ष हो गया।

अकबर के शासनकाल में इस प्रकार के अनुदानों का राजस्व कुल जमा के 5.84 प्रतिशत से ऊपर नहीं होता था। इन अनुदानों की भौगोलिक अवस्थिति को देखने से पता चलता है कि ये अधिकाशंतः ऊपरी गांगेय प्रदेशों (दिल्ली और इलाहाबाद में अधिकतम) में केन्द्रित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद शाह के शासन काल के आरंभिक वर्षों तक कुल राजस्व में भूमि अनुदानों का हिस्सा लगभग अपरिवर्तनीय रहा। इस भौगोलिक अवस्थिति से पता चलता है कि ये अनुदान मुख्यतः शहरी क्षेत्रों में केन्द्रित थे। हमें इससे यह भी पता चलता है कि लगभग 70 प्रतिशत *सुयूरगाल* अनुदान उन *परगनों* में केन्द्रित थे जो गैर-मुसलमान *ज़मींदारों* के अधिकार में थे।

एक दूसरे प्रकार का अनुदान (*वक्फ*) संस्थानों आदि को दिया जाता था। धार्मिक मकबरें, समाधियों, मदरसों आदि के रख-रखाव के लिए कुछ जमीन का राजस्व स्थाई रूप से निश्चित कर दिया जाता था। इस प्रकार के अनुदान *जागीरदार* भी दे सकता था जो उस *जागीरदार* के उस इलाके में रहने तक कायम रहता था।

मदद-ए माश अनुदान की सहायता से प्रभाव-क्षेत्र कायम किया जाता था और इससे बंजर भूमि को विकसित करने में मदद मिलती थी। आमतौर पर इस प्रकार का अनुदान शेखों, सैय्यदों और अन्य विद्वानों को दिया जाता था। आपातकाल में स्थानीय उपद्रवों को दबाने के लिए वे सरकारी सेना में शामिल हो जाते थे। ये अनुदान राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा नहीं थे। अनुदान प्राप्तकर्त्ता उस इलाके के और अन्य इलाकों के *ज़मींदारी* अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न लगातार करते रहते थे। अंतः इनमें से कुछ छोटे *ज़मींदार* बन गये। 18वीं शताब्दी के आरंभ तक ये अनुदान सभी प्रकार के लेन-देन में *ज़मींदारी* भूमि के रूप में जाने, जाने लगे।

11.7.2 *ज़मींदार*

वस्तुतः मुगल साम्राज्य के प्रत्येक हिस्से में *ज़मींदार* उपस्थित थे और मुगल कालीन भारत की कृषि संरचना में उन्हें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। *ज़मींदार* शब्द फारसी के दो शब्दों – *ज़मीन* (भूमि) और *दार* (ग्रहणकर्त्ता) से मिलकर बना है। मुगल काल से पहले *ज़मींदार* शब्द का उपयोग इलाके के प्रधान के लिए किया जाता था। इस तथ्य का, कि प्रधान सर्वोच्च संप्रभुसत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार करता था, इससे उसके अपने क्षेत्र में उसके अधिकारों पर कोई फर्क नहीं पड़ता था जब तक उसे इसका अधिकार प्राप्त था। अकबर के समय से यह पद किसी भी व्यक्ति के उत्पादन से सीधे हिस्सा ग्रहण करने के अनुवांशिक दावों के लिए जाना जाता था। *ज़मींदार* शब्द ने कई स्थानीय शब्दों जैसे दोआब में *खोत* और *मुकद्दम*, अवध में *सतरही* और *बिस्वी*, राजस्थान में *भोमिया* और गुजरात में *बंठ* या *वंठ* की जगह ले ली। हालांकि समकालीन उल्लेखों में *ज़मींदार* के पर्याय के रूप में इन शब्दों का उपयोग होता रहा है। जिन क्षेत्रों में *ज़मींदार* नहीं थे उन क्षेत्रों को "***रैयती***" (किसानों के अधिकार-क्षेत्र) कहा गया।

नूरुल हसन ने *ज़मींदारों* को तीन श्रेणी में बांटा हैः

क) प्राथमिक *ज़मींदार* जिनके भूमि पर स्वामित्व के कुछ अधिकार होते थे;

ख) मध्यस्थ (secondary) *ज़मींदार* जिनके बिचौलिया अधिकार होते थे और जो राज्य को भू-राजस्व एकत्रण में सहायता देते थे; और

ग) स्वायत्त सरदार जिनके अपने क्षेत्र पर स्वायत्त अधिकार होते थे और जो निश्चित धनराशि मुगल राज्य को देते थे।

ज़मींदारों के अधिकार

ज़मींदारी का मतलब भूमि पर सम्पति अधिकार नहीं था। यह भूमि उत्पादन पर *ज़मींदारों* का एक दावा था जो राज्य की भू-राजस्व की मांग के साथ-साथ चलता था। लेकिन निजी सम्पति की भांति किसी भी वस्तु की तरह इसे बेचा या खरीदा जा सकता था। यह अनुवांशिक और विभाज्य था अर्थात् *ज़मींदार* के उत्तराधिकारी इसके वित्तीय लाभों को आपस में बांट सकते थे और इलाके के कानून के अनुसार *ज़मींदारी* के विशेषाधिकारों को ग्रहण कर सकते थे।

ज़मींदारों को ऐतिहासिक विरासत के रूप में अधिकार प्राप्त होते थे जिनका उपयोग उनके पूर्वज और वंशज किसी खास गांव के निवासियों पर पहले से करते आ रहे थे। कभी *ज़मींदारों* ने गांवों को बसाया होगा और उसकी ज़मीनों को किसान वर्ग में बांट दिया होगा। पूर्वी राजस्थान में, अपनी व्यक्तिगत ज़मीन पर खेती कराने के लिए *भूमिया* (*ज़मींदार*) ने *वसीदारों* (कृषकों की एक कोटि) को बसाया था। इस प्रकार शासकीय वर्गों ने *ज़मींदारी* अधिकारों को जन्म नहीं दिया बल्कि वे उनसे पहले से ही कायम थे। हालांकि जहां *ज़मींदारी* नहीं थी वहां राजा गांवों में *ज़मींदारी* निर्मित कर सकता था। वह किसी *ज़मींदार* को पदच्युत भी कर सकता था। परन्तु यह कदम वह राजद्रोह या राजस्व के भुगतान न किए जाने पर ही उठाया करता था।

मध्यकालीन शासकों ने *ज़मींदारों* के अधिकारों को वैधता प्रदान की परन्तु उन्होंने बराबर यह प्रयत्न किया कि वे सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राजस्व वसूल करें। *ज़मींदारों* ने जब से सरकार को राजस्व वसूल करने में मदद करने का काम शुरू कर दिया तब से उसे इस सेवा (*खिदमत*) के लिए कुल राजस्व का एक खास प्रतिशत मिलने लगा। सरकारी आंकड़ों में इसे 10 प्रतिशत बताया गया है और इसे *नानकार* (भत्ता) कहा गया। जब प्रशासन *ज़मींदारों* से नहीं बल्कि अपने प्रतिनिधियों से राजस्व वसूल करवाती थी तो उसे कुल राजस्व में से कुछ हिस्सा *ज़मींदार* को देना पड़ता था जिसे *मालिकाना* (सम्पत्तिगत अधिकार) कहते थे और *नानकार* की तरह यह भी कुल वसूली राशि का 10 प्रतिशत हिस्सा होता था।

गुजरात में *ज़मींदार* के इस दावे को *बंठ* या *वंठ* कहते थे। परन्तु, उत्तर भारत के *मालिकाना* की अपेक्षा इसकी दर ऊंची थी। *मालिकाना* की तरह इसका भुगतान भी नगद होता था। दक्खन में इसे *चौथ* ('एक चौथाई') कहते थे। जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह वसूले गये राजस्व का एक चौथाई हिस्सा होता था। दक्खन के *ज़मींदारों* का एक अन्य वित्तीय दावा *सरदेशमुखी* के नाम से जाना जाता था जो कुल राजस्व का 10 प्रतिशत होता था। मराठों ने *चौथ* और *सरदेशमुखी* जैसे करों की वसूली किसी वास्तविक *ज़मींदारी* अधिकार के तहत नहीं बल्कि बल प्रयोग से की। शिवाजी के शासनकाल में *चौथ* के एक चौथाई हिस्से और पूरी *सरदेशमुखी* पर शासक का अधिकार होता था जबकि *चौथ* का तीन चौथाई हिस्सा मराठा सरदारों में वितरित कर दिया जाता था।

अपने मुख्य वित्तीय दावों के अलावा ये *ज़मींदार* किसानों से कई प्रकार के उप-कर (*अबवाब*) और नज़राने वसूल किया करते थे। इनमें से कुछ *अबवाब* हैं: *दस्तर शुमारी* (पगड़ी कर), गृह कर (*खाना शुमारी*), विवाह और जन्म आदि पर कर, आदि। *ज़मींदार* अपने इलाके के साप्ताहिक बाजारों से भी कर वसूला करता था। कई बार अपने क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर भी वे कर वसूला करते थे। *ज़मींदारों* द्वारा वसूली गयी इन राशियों का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। ऐसा माना जा सकता है कि उनके भू-राजस्व से प्राप्त वित्तीय दावे की तुलना में यह (उप-करों से प्राप्त राशि) काफी कम थी।

अभी तक हम सीधे प्रशासन वाले क्षेत्र के प्राथमिक और मध्यस्थ *ज़मींदारों* की बात कर रहे थे। प्रत्येक शासन की यह कोशिश रहती थी कि इन *ज़मींदारों* को मात्र कर 'वसूलकर्ता' बनाकर रख दिया जाये। इनके अलावा *राजा, राव, राणा* और *रावत* जैसे कुछ सरदार या सामंत होते थे

जो अपने क्षेत्र में कमोबेश स्वायत्त हुआ करते थे और साम्राज्य प्रशासन के बिना किसी हस्तक्षेप के शासन किया करते थे (देखिए **इकाई 6**)। उन्हें केवल राजा को नज़राना (*पेशकश*) के रूप में निश्चित राशि देनी होती थी। वे किसानों से जितना वसूल करते थे उसका एक खास हिस्सा शासक को दिया करते थे और शेष राजस्व पर उनका अधिकार होता था। साम्राज्य प्रशासन उन्हें अर्द्ध-स्वायत्तता का दर्जा प्रदान करता था और एक बार *पेशकश* दे देने के बाद उनके आंतरिक प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। इरफान हबीब के अनुसार, '*ज़मींदारों* और स्वायत्त सरदारों के बीच का अन्तर केंद्रीय शक्ति से उनके संबंधों पर आधारित था जिनके द्वारा सरदारों को तो स्वायत्तता प्रदान की गई थी, किन्तु साधारण *ज़मींदार* राजा की विशेषाधिकार प्राप्त (*मालिकाना*) प्रजा के समतुल्य थे।'

ज़मींदारों की सैन्य शक्ति

ज़मींदारों के पास अपनी पैदल और घुड़सवार सेना होती थी। सेना की सहायता से वे किसानों से राजस्व वसूला करते थे और उन्हें दबाया करते थे। लगभग सभी *ज़मींदारों* के पास अपने छोटे या बड़े किलाचे, गढ़ी या किले होते थे। *आइन-ए अकबरी* के अनुसार मुगल साम्राज्य में *ज़मींदारों* की सेना में चौवालीस लाख से ज्यादा सिपाही थे। बंगाल में उनके पास हजारों नावें थी।

चौधरी

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, *ज़मींदार* भू-राजस्व वसूल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इनमें से कुछ को राजस्व वसूल करने की दृष्टि से *चौधरी* की उपाधि दे दी जाती थी। *परगना* के एक प्रमुख *ज़मींदार* को *चौधरी* नियुक्त किया जाता था। आमतौर पर एक *परगना* में एक *चौधरी* होता था।

चौधरी को *परगने* के अन्य *ज़मींदारों* से कर वसूलना होता था। अपने परंपरागत *नानकार* के अतिरिक्त *चौधरियों* को वसूले गये इस राजस्व में से भी अलग से हिस्सा मिलता था। इसे *चौधराई* कहते थे और यह कुल वसूले गये राजस्व का ढ़ाई प्रतिशत होता था। *ज़मींदारों* के विपरीत *चौधरी* की नियुक्ति राज्य करता था और उसे ठीक ढंग से काम न करने पर किसी भी समय हटाया जा सकता था।

11.7.3 अन्य मध्यस्थ वर्ग

प्रत्येक गांव में कई अनुवांशिक पदाधिकारी होते थे। उनमें सर्वप्रमुख गांव का मुखिया (उत्तर भारत में *मुकद्दम* और दक्खन में *पटेल*) होता था। उसके जिम्मे राजस्व वसूलना और गांव में कानून व्यवस्था की देख-रेख करना होता था। अपनी सेवाओं के बदले में उसे गांव में राजस्व मुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। हालांकि कुछ मामलों में उसे भी वसूले गये राजस्व में से नगद हिस्सा मिला करता था। इसके अलावा उसे किसानों से भी उपज में से कुछ हिस्सा लेने का अधिकार था। राजस्व वसूल करने में ग्रामीण लेखपाल (उत्तर भारत में *पटवारी* और दक्खन में *कुलकर्णी*) *मुकद्दम* की सहायता किया करता था। *पटवारी* किसानों से वसूले गये राजस्व और राज्य को दिये गये राजस्व का लेखा-जोखा (*बही*) तैयार करता था। उसके आंकड़ों से सरकार को किसानों के राजस्व चुकाने के सामर्थ्य का पता लगाने और गांव पर कुल भू-राजस्व निर्धारित करने में सहायता मिलती थी। *मुकद्दम* के समान उसे भी राजस्व मुक्त भूमि मिलती थी अथवा राजस्व में से नगद हिस्सा मिलता था। गांव के मुखिया की अपेक्षा उसका भत्ता काफी कम था। *मुकद्दम* और *पटवारी* का पद और उससे जुड़े विशेषाधिकार अनुवांशिक थे।

बोध प्रश्न-5

1) राजस्व मुक्त भू-अनुदानों से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) *ज़मींदारी* अधिकारों की प्रकृति पर संक्षेप में विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित पर तीन पंक्तियां (प्रत्येक) लिखिए :

i) *चौधरी* .....

.....

.....

ii) *मुकद्दम* .....

.....

.....

11.7.4 कृषक वर्ग

अभी तक हमने भूमि से होने वाली उपज पर सर्वोच्च अधिकार रखने वाले वर्गों का अध्ययन किया। इस भाग में हम उत्पादन करने वाले वर्ग का अध्ययन करने जा रहे हैं।

कृषक वर्ग में किसान मुख्य रूप से सीधे खेती से जुड़ा हुआ था। हालांकि किसानों के भी कई स्तर थे परन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सभी को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा रहा है।

किसान ग्रामीण समाज का मुख्य वर्ग था और उससे वसूले गये राजस्व पर ही पूरा शासन और राज्य-तंत्र आधारित था। **इकाई 10** पढ़ते समय हमने देखा था कि किसानों को अपनी उपज का अधिकांश हिस्सा राजस्व के रूप में दे देना होता था। ऐसा लगता है कि अधिकांश किसान मुश्किल से अपना जीवनयापन कर पाते थे।

कृषक वर्ग के भूमि संबंधी अधिकार

किसानों के भूमि संबंधी अधिकार को लेकर इतिहासकारों के बीच लम्बी बहस चली है। हालांकि राज्य ने कभी भी भूमि पर किसानों के अधिकारों को नकारा नहीं परन्तु उन्हें कभी भी अपनी इच्छानुसार भूमि खरीदने और बेचने का अधिकार भी नहीं दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक किसान खेती करता था तब तक भूमि पर उसका अधिकार होता था। किसान खेती करता रहे और राजस्व देता रहे तो *ज़मींदारों* और राज्य को किसानो को बेदखल करने का कोई अधिकार नहीं था। ऐसा लगता है कि मुगल काल में भूमि संबंधी सम्पतिगत अधिकार का स्वरूप कुछ स्थिर और निश्चित नहीं हुआ था। हां, इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस दौरान भूमि के उत्पादन पर तरह-तरह के दावे प्रस्तुत किए गये।

कई समकालीन आलेखों से पीड़ित होकर या अन्य समस्याओं के कारण किसानों के गांव छोड़कर भाग जाने का उल्लेख मिलता है। ऐसी अनेक घटनाओं का पता चलता है जिसमें किसान व्यक्तिगत रूप में या सामूहिक रूप में कहीं जाकर बस गये हों। मुगल कालीन भारत में किसानों का एक जगह से दूसरी जगह जाना एक स्थापित तथ्य है। इस प्रकार का स्थान परिवर्तन और पलायन शोषण या बाढ़ अथवा अकाल जैसे प्राकृतिक प्रकोपों के कारण हुआ करता था।

कृषक वर्ग का स्तरीकरण

कृषक वर्ग कोई समरूप समुदाय नहीं था। इनका स्तरीकरण सम्पत्ति और सामाजिक हैसियत में भिन्नता के कारण था। बड़े किसानों के पास ज्यादा संसाधन होते थे, उनके पास ज्यादा खेत थे और वे अपने खेतों में मजदूरों की भी सहायता लेते थे। वे गांव के मुखिया (*मुकद्दम* या *पटेल*) के रूप में अन्य किसानों के उत्पादन से हिस्सा ग्रहण कर सकते थे। यह विभाजन इतना स्पष्ट था और सरकारी आंकड़ों और लेखों में इनका अलग से उल्लेख किया जाता था। धनी किसानों को उत्तर भारत में *खुदकाश्त* (स्वयं खेती करने वाले कृषक), राजस्थान में *घरूहल* और महाराष्ट्र में

मिरासदार कहते थे। गरीब किसानों को उत्तर भारत में *रेज़ा रियाया* (छोटे किसान), राजस्थान में *पालती* और महाराष्ट्र में *कुनबी* कहते थे।

इसका एक प्रमुख कारण चारों तरफ फैली नगदी व्यवस्था में ढूंढा जा सकता है। चूंकि भारत के अधिकांश हिस्सों में भू-राजस्व का भुगतान नगद के रूप में होता था, अतः किसान और खेतिहरों को बाध्य होकर अपनी फसल बाजार जाकर व्यापारियों को बेचनी पड़ती थी या फसल कटाई के समय महाजन से उधार लेना पड़ता था। ऐसी स्थिति में नगदी फसल उगाने वाले किसान फायदे में रहते थे क्योंकि वे ऊंचे दामों में अपनी फसल बेचते थे। परंतु संसाधनों के अभाव में जो किसान खाद्य फसलें उगाते थे उनका भाव बाजार में अपेक्षाकृत कम होता था और उन्हें कम पैसा मिलता था। सभी किसान नगदी फसल की खेती नहीं कर सकते थे क्योंकि इसमें लागत ज्यादा आती थी; अच्छी किस्म का बीज, बेहतर उर्वरक, सिंचाई सुविधाओं और उर्वर भूमि की जरूरत पड़ती थी। भू-राजस्व की नगद मांग के कारण सम्पन्न किसान और निर्धन किसान के बीच खाई बढ़ती चली गयी। सम्पन्न किसान अपने संसाधनों का उपयोग कर नगदी फसल उगा सकता था जबकि निर्धन किसानों के लिए खाद्यान्न फसल उगाना भी महंगा और कष्टकर कार्य होता था। भू-राजस्व मांग की दमनात्मक प्रवृति के कारण भी किसान वर्ग में भेद पैदा हो गये। अमीर और गरीब दोनों प्रकार के किसानों से एक ही प्रकार की राजस्व मांग की जाती थी परंतु वास्तव में गरीब किसानों को अमीरों की अपेक्षा ज्यादा बोझ झेलना पड़ता था। ग्रामीण संगठन या आम बोलचाल की भाषा में ग्रामीण समुदाय ने *खुदकाश्त* किसानों के राजस्व की दर कम करके और इस घाटे को *रेज़ा रियाया* द्वारा पूरा करवाकर इस विभाजन को और गहरा बना दिया।

किसान वर्ग के विभाजन का आधार केवल आर्थिक ही नहीं था। गांव के स्थाई निवासी (उत्तर भारत में *खुदकाश्त*, महाराष्ट्र में *मिरासदार* और दक्खन में *थालवैक* या *थालकर*) और अस्थाई निवासियों (उत्तर भारत में *पाई/पाही काश्त* महाराष्ट्र में *उपरी*) में भी भेद था। जातिगत बंधन और गोत्रीय संबंध (*भाईचारा*) भी विभाजन के आधार थे।

भारत के गांवों के किसानों से भी नीचे, सामाजिक दृष्टि से भी निम्न, श्रमिक वर्ग था। कृषक जाति के अनुपात में उनकी संख्या का अनुमान लगाना लगभग असंभव है। परन्तु संभवतः भारत की ग्रामीण जनसंख्या में उनकी संख्या काफी थी। समकालीन साहित्य में उन्हें 'चर्मकार', *बलाहार, थोरी* और *धानक*, आदि कहा गया है। वे किसानों और *ज़मींदारों* के लिए सस्ती दरों पर मजदूरी करते थे। बुआई और कटाई के समय ये किसानों और *ज़मींदारों* के खेतों में काम करते थे इसलिए उन्हें दबाकर रखना उन दोनों (किसान और *ज़मींदार*) के हित में था। सस्ती दर पर मजदूर उपलब्ध होने के कारण कृषि लागत में कमी आई और 'अधिशेष' उत्पादन में वृद्धि हुई। इससे शासक और ज्यादा राजस्व वसूलने के लिए प्रवृत्त हुआ। इन 'निम्न' जाति के मजदूरों का शोषण राज्य, *ज़मींदार* और किसान एक साथ मिलकर करते थे।

11.7.5 ग्रामीण समुदाय

आमतौर पर एक गांव के किसान अधिकांशतः एक ही जाति के होते थे। ऐतिहासिक रूप से इन गांवों को एक परिवार या कुल द्वारा बसाया जाता था। प्रभावशाली जाति के किसानों के अलावा एक गांव में निम्न जाति के मजदूर भी रहा करते थे। समकालीन आलेखों को देखने से लगता है कि कई मामलों में ये गांव समुदाय के रूप में कार्य करते थे। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यहां किसी प्रकार की सामुदायिक भूमि की व्यवस्था थी। खेतों का मालिक निश्चित रूप से कोई कृषक विशेष होता था। राजस्व निर्धारण और वसूली की सुविधा को ध्यान में रखते हुए राजस्व पदाधिकारी गांव को एक इकाई मान लिया करते थे। *पटवारी* द्वारा ग्रामीण पदाधिकारी के रूप में कार्य करना इसका प्रमाण है। यह माना जाता है कि *पटवारी* को व्यक्तिगत किसानों के उत्पादन और राजस्व अदायगी का हिसाब-किताब रखना पड़ता था। लेकिन गांव एक इकाई के रूप में राज्य को भुगतान करता था। व्यक्तिगत किसानों के राजस्व को एक सामूहिक निधि-कोष में डाल दिया जाता था जो *पटवारी* के जिम्मे होता था। इस कोष से कुछ पदाधिकारियों के भू-राजस्व, शुल्क और अन्य राशियों और गांव के सामूहिक खर्च का भुगतान किया जाता था। यहां तक कि महाजन से लिया गया ऋण भी इसी कोष से चुकाया जाता था।

गांव के प्रभावशाली लोगों को मिलाकर एक ग्राम पंचायत बनती थी। ग्राम पंचायत भूमि से सम्बद्ध विवादों को निपटाती थी, बंजर भूमि की देखभाल, आदि का कार्य करता थी। अपराधियों को गिरफ्तार करना, चोरी हुई वस्तु का मूल्य चुकाना या उन्हें खोज निकालना पंचायत की राज्य के प्रति जिम्मेदारी थी। ये पंचायतें राज्य से ऊपर नहीं थीं। राज्य इन्हें ग्रामीण समाज में परंपरागत भूमिका निभाने से तब तक नहीं रोकता था जब तक कि राज्य के आधारभूत सिद्धांतों पर ही कुठाराघात न किया जा रहा हो।

गांव में कुछ सामाजिक समुदाय ऐसे भी होते थे जो सीधे कृषि उत्पादन से सम्बद्ध नहीं थे परन्तु कृषि गतिविधियों में उनकी कुछ न कुछ भूमिका होती थी। महाजन राज्य और किसानों के बीच मध्यस्थ का कार्य करता था और उसका ग्रामीण समाज और अर्थव्यवस्था पर काफी नियंत्रण होता था। वे किसानों को व्यक्तिगत तौर पर ऋण प्रदान करते थे और गांव को सामूहिक तौर पर बीज और औजार के लिए कर्ज देते थे। वे राजस्व अदा करने और सामाजिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भी कृषकों को ऋण दिया करते थे।

गांवों में कारीगर भी रहा करते थे। उन्हें अपनी सेवाओं के बदले कटाई के समय फसल दी जाती थी। दक्खन और महाराष्ट्र में यह व्यवस्था अच्छे ढंग से व्यवस्थित थी। इन्हें *बलूतेदार* कहा जाता था। हमने इनके बारे में **इकाई 4** में कुछ विस्तृत चर्चा की है। ग्रामीण समुदाय, पंचायत या *बलूतेदार* की व्यवस्था मुगल साम्राज्य के सभी गांवों में एक समान नहीं थीं। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार की संरचनाएँ थीं। सभी गांवों में किसी न किसी रूप में सामुदायिक संरचना विद्यमान थी। परन्तु, उनका अपने सदस्यों पर नियंत्रण का स्तर और प्रभाव अलग-अलग था।

11.7.6 कृषक वर्गों के अन्तर्संबंध

इस इकाई के आरंभिक भाग में हमने कई कृषि वर्गों का उल्लेख किया है। हमने देखा कि *जागीरदार*, धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ता, *ज़मींदार* और ग्रामीण स्तर पर अनेक बिचौलिए उत्पादन के अधिशेष से अपना हिस्सा लिया करते थे। हमने उत्पादक वर्ग अथवा किसान वर्ग का भी अध्ययन किया। इस भाग में हम इन वर्गों के संबंधों का अध्ययन करेंगे।

ज़मींदारों और *जागीरदारों* का भरण-पोषण किसानों द्वारा उपजाए गये अनाज के अधिशेष से होता था अतः किसानों के शोषण के मामले में ये एक दूसरे की सहायता किया करते थे। *ज़मींदार* गांव में स्थाई रूप से रहता था। अतः वह किसानों पर इतना ज्यादा अत्याचार और शोषण नहीं करना चाहता था कि किसान अपना खेत छोड़ कर भाग जाएँ जिसके फलस्वरूप कृषि कार्य के बंद हो जाने का भय था। इससे आने वाले वर्ष में उसी की वित्तीय आमदनी पर प्रभाव पड़ता। बर्नियर, जो 17वीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था, उसने *जागीरदारों* के दृष्टिकोण पर विशेष टिप्पणी की। उसके अनुसार *ज़ागीरों* के जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण के कारण *जागीरदार*, गवर्नर और राजस्व के ठेकेदार किसान की दयनीय स्थिति की बिल्कुल चिंता नहीं करते थे। वे केवल किसानों को ज्यादा से ज्यादा चूसना जानते थे चाहे उनके शोषण से तंग आकर किसान अपने खेत छोड़कर भाग जायें और खेती नहीं हो पाए।

18वीं शताब्दी का एक लेखक जवाहर मल बेकस लिखता है कि एक दिन का *हाकिम* (*ज़ागीरदार*) एक क्षण में पांच सौ वर्षों के *ज़मींदार* को हटा कर उसके स्थान पर किसी भी व्यक्ति को बैठा सकता है। इरफान हबीब उसकी शक्तियों पर विस्तार से चर्चा करते हुए लिखते हैं, '*जागीरदार* किसानों को एक अर्ध-दास की तरह भूमि से बांधकर रखने की ताकत रखता था और अगर वे भाग जाएँ तो पुनः पकड़कर वापस बुला सकता था।' सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में *जागीरों* की अनिश्चितता के कारण *जागीरदार* किसानों का दमन करने लगे। उन्हें उनके कल्याण की तनिक भी चिंता नहीं थी। इरफान हबीब के अनुसार 'हालांकि निःसन्देह मुगल प्रशासन ने *जागीरदारों* की अवैध मांग को नियंत्रित और कम करने की कोशिश की, फिर भी यह निश्चियपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि *ज़ागीरदारों* द्वारा निजी तौर पर थोड़े समय के लिए बढ़ाए गए राजस्व के दबाव को इसके द्वारा कम किया जा सका था। इन दबाबों के कारण न केवल खेती के प्रसार में बाधा पड़ी बल्कि इससे मुगल शासकीय वर्ग दो प्रमुख कृषि वर्गों, *ज़मींदारों* और कृषक वर्ग से गहरे रूप में उलझ गया।'

कृषक वर्ग अंदर से विभाजित था और खेतिहर मजदूरों से उनके अंतर्विरोधों के कारण यह वर्ग सशक्त और संगठित वर्ग के रूप में न उठ सका और इस वर्ग की क्षमता में कमजोरियां पैदा हो गईं। इस विभाजित और विखंडित वर्ग में मध्यकालीन निरंकुश राजतंत्र से लड़ने की क्षमता नहीं थी। इसके बावजूद इन्होंने दो कारणों से विद्रोह किया पहला जब राजस्व मांग किसानों के अधिशेष उत्पादन से ज्यादा हो गयी और इस प्रकार उनके अस्तित्व पर ही संकट आ गया। इन विद्रोहों में किसानों ने राजस्व घटाने की मांग के अलावा और कोई मांग नहीं की। किसानों ने *ज़मींदारों* के अनुयायियों के रूप में भी विद्रोह किया जो राज्य या *जागीरदार* के खिलाफ विद्रोह कर रहे थे (ये विद्रोह केवल उत्पादन में हिस्सा लेने के लिए हुए थे)। किसान इस आशा में उनका साथ दे रहे थे कि विद्रोह के बाद उनकी स्थिति सुधरेगी या फिर अपने मालिक की सेवा मात्र के उद्देश्य से कर रहे होते थे। औरंगज़ेब के काल में हुए इस प्रकार के किसान विद्रोह, विशेष रूप से सतनामी और जाट, मूलतः *ज़मींदारी* विद्रोह ही थेः *ज़मींदार* उनका नेतृत्व करते थे और किसान *ज़मींदारों* की उद्देश्य पूर्ति में सहायक का काम करते थे।

बोध प्रश्न-6

1) किसानों की विभिन्न श्रेणियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) ग्रामीण समुदाय किस प्रकार कार्य करता था।

.....

.....

.....

.....

3) *जागीरदारों* और *ज़मींदारों* के हितों में टकराव की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

11.8 सारांश

इस इकाई में हमने दिल्ली सल्तनत और मुगल काल में कृषि व्यवस्था, कृषि उत्पादन, सिंचाई के साधन तथा किसान और भूमि से संबंधित मध्यस्थ वर्गों का अध्ययन किया। इस काल में बड़ी मात्रा में कृषि योग्य भूमि कृषि के उपयोग में नहीं थी। दोआब के क्षेत्र में दो फसल उगाने की प्रथा प्रचलित थी। नहरें कृत्रिम सिंचाई का प्रमुख साधन थीं। गांवों में उच्च भूमि अधिकारियों (*खोत, मुकद्दम* और *चौधरी*) तथा साधारण कृषक (*रैय्यत*) भिन्न स्तरों में बंटे थे।

समकालीन विदेशी पर्यवेक्षक कृषि औज़ारों की पुरातनता और सरलता की बात करते हैं पर यह भारतीय कृषि के अनुकूल था। कृषि मुख्य रूप से वर्षा जल पर निर्भर थी पर कृत्रिम सिंचाई के तरीके भी अपनाए जाते थे। कुओं से पानी निकालने के लिए *ढेंकली, चरस* और *साकिया* (कुएँ से पानी निकालने की ईरानी विधि; Persian Wheel) जैसे तरीकों का उपयोग किया जाता था। तालाब और जलाशयों के अतिरिक्त कुछ सीमा तक नहर सिंचाई के प्रमुख स्रोत थे।

भारतीय किसान कई प्रकार के खाद्यान्न और नगदी फसलें उपजाया करते थे। कुछ खेतों में दो या उससे अधिक फसलें उगाई जाती थीं। फसलों को बदल-बदल कर लगाना और बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप नगदी फसल की खेती करना इस युग की खास विशेषताएँ हैं। गुणवत्ता और परिमाण दोनों ही मानदण्डों पर इस काल के फल उत्पादन ने उच्च स्तर को प्राप्त किया।

19वीं शताब्दी की आधुनिक उपज और उत्पादन की तुलना में भी उस समय की उत्पादकता और उपज खरी उतरती है। मुगल काल में पशु और पशुधन की प्रति व्यक्ति जनसंख्या भी काफी अच्छी थी।

इस इकाई में हमने निम्नलिखित बातों का भी अध्ययन किया:

- *जागीरदार* राज्य के लिए कृषि अधिशेष का बड़ा हिस्सा वसूल करता था;
- राजस्व प्राप्तकर्ताओं को राज्य की तरफ से राजस्व-मुक्त भूमि अनुदान में दी जाती थी;
- *ज़मींदार* जमीन का मालिक हुआ करता था लेकिन उपज पर उसका अनुवांशिक अधिकार होता था। इन अधिकारों को बेचा जा सकता था;
- जब *ज़मींदार* राज्य के लिए राजस्व इकट्ठा करता था तब उसे *नानकार* मिलता था। लेकिन जब राज्य सीधे अपने कर्मचारियों द्वारा राजस्व इकट्ठा करता था तो *ज़मींदार* को *मालिकाना* हिस्सा दिया करता था। *ज़मींदार* अन्य उप-कर भी वसूल किया करते थे;
- *ज़मींदार* सेना रखते थे;
- *ज़मींदार* हमेशा जाति और गोत्र में बंटे रहे और भारत के शासकीय वर्ग के रूप में नहीं उभर सके;
- गांव का मुखिया और अन्य पदाधिकारी भी कृषि अधिशेष से अपना हिस्सा ग्रहण करते थे;
- किसान को अपनी उपज का अधिकांश हिस्सा राज्य, *ज़मींदार* और अन्य बिचौलियों को दे देना पड़ता था;
- कृषक वर्ग एक समजातीय समुदाय नहीं था। ये भूमि और आय के आधार पर विभाजित थे। जाति और गोत्र के आधार पर भी वे विभाजित थे;
- भूमिहीन किसान या निम्न जाति से संबद्ध समझे जाने वाले मजदूर ग्रामीण समाज के सबसे सताए हुए लोग थे; और
- *जागीरदारों* और *ज़मींदारों* के बीच हितों का टकराव जबरदस्त था। दोनों के बीच के संघर्ष में किसान आमतौर पर *ज़मींदारों* का पक्ष लेते थे और ऐसे झगड़ों में उनका ही सबसे ज्यादा नुकसान होता था।

11.9 शब्दावली

बीघा-ए इलाही यह 60 वर्ग *गज-ए इलाही* (अकबरी) के बराबर था। *गज-ए इलाही* की लंबाई लगभग 32 फुट होती थी। एक *बीघा-ए इलाही* लगभग में .60 एकड़ के बराबर होता था

नकदी फसलें ऐसी फसलें जो प्रमुखतः बाजार में बेचने के उद्देश्य से उगाई जाती थीं, जैसे – गन्ना, कपास, तथा नील आदि

दस्तूर प्रखंड ऐसा क्षेत्र जिसमें अलग-अलग फसलों के लिए कुछ नगद राजस्व दरें निर्धारित की जाती थीं, पूरा प्रांत विभिन्न *दस्तूर* प्रखंडों में विभक्त होता था, प्रत्येक *दस्तूर* में राजस्व दरें अलग होती थीं

दस्तूर दरें विभिन्न फसलों के प्रति इकाई क्षेत्र के लिए नगद राजस्व दरें

आसवन वह प्रक्रिया जिसमें गर्म करके भाप बनाई जाती है और इस भाप को ठंडा करके तरल पदार्थ प्राप्त किया जाता है

जमा अनुमानित आय

कुरोह दूरी नापने के लिए प्रयुक्त; 1 *कुरोह* = 2.5 मील

खरीफ शरदकालीन फसल

खरक पुशशाला

मन-ए अकबरी वजन मापने की इकाई जो 55 पाउंड के आसपास होती थी

हल का फाल	हल का नुकीला निचला हिस्सा जिससे खेत जोता जाता था। यह लोहे या कड़ी लकड़ी का बना होता था
रबी	जाड़े की फसल
रैय्यत	साधारण किसान

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 11.2

2) देखें उप-भाग 11.2.2

3) i) × ii) ✓ iii) ×

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 11.3.1 और 11.3.2

2) i) × ii) ✓ iii) ✓

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 11.4.1

2) इसमें आप फसलों के बदलाव और विभिन्न प्रकार के उर्वरकों के उपयोग आदि का उल्लेख कर सकते हैं। देखें उप-भाग 11.4.2

3) आप कम मात्रा में पानी निकालने की विधियों को छोड़कर शेष का उल्लेख कर सकते हैं। देखें उप-भाग 11.4.2

4) देखें उप-भाग 11.4.2

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 11.5.1

2) बाजार के लिए उत्पादित फसल को नगदी फसल कहते थे। खाद्यान्न फसल बाजार में भी बेची जाती थी और इनका उपभोग स्वयं के भोजन के लिए भी किया जाता था। तिलहन फसलों से खाद्य तेल निकाला जाता था। देखें उप-भाग 11.5.1, 11.5.2

3) देखें उप-भाग 11.5.2

4) देखें उप-भाग 11.5.3

बोध प्रश्न-5

1) देखें उप-भाग 11.7.1

2) *ज़मींदार* के भू-उत्पाद पर अधिकारों की चर्चा कीजिए। देखें उप-भाग 11.7.2

3) देखें उप-भाग 11.7.2 और 11.7.3

बोध प्रश्न-6

1) खेती, संसाधनों और भूमि संबंधी अधिकारों की प्रकृति के आधार पर किसानों को कई श्रेणियां में विभाजित किया जा सकता है। देखें उप-भाग 11.7.4

2) गांव के लोगों की प्रतिनिधि सभा ग्रामीण समुदाय के रूप में कार्य करती थी। देखें उप-भाग 11.7.5

3) *ज़मींदारों* का अपने इलाके के साथ स्थाई हित जुड़ा हुआ था जबकि *जागीरदारों* का स्थानान्तरण होता रहता था। *जागीरदारों* का उद्देश्य केवल किसानों का शोषण करना होता था जबकि *ज़मींदारों* को भय होता था कि किसान खेत छोड़कर भाग जाएंगे और उनकी आमदनी कम हो जाएगी। देखें उप-भाग 11.7.6

11.11 संदर्भ ग्रंथ

फुकाज़ावा, एच., (1991) *द मिडिवल डेकनः पेज़ेन्ट्स, सोशल सिस्टम्स एंड स्टेट्स, 16 टू 18 सेंचुरी* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

हबीब, इरफान, *मुगलकालीन भारत की कृषि व्यवस्था, 1556-1707* (हिंदी संस्करण).

हबीब, इरफान, (2016) *इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया ए डी 1206-1526* (दिल्ली : तूलिका बुक्स).

मूसवी, शीरीन, (1987) *द इकॉनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर c.1595ः ए स्टेटिस्टीकल स्टडी* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

रेचौधरी, तपन और इरफान हबीब, (1982) *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग 1 (दिल्लीः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

11.12 शैक्षणिक वीडियो

एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन इन मुगल इंडिया-I
https://www.youtube.com/watch?v=TzJbp2uRhoc

एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन इन मुगल इंडिया-II
https://www.youtube.com/watch?v=TO_2hyR7nmo

एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन मुगल इंडिया-I
https://www.youtube.com/watch?v=OEf15hoqwqw

एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन मुगल इंडिया-I
https://www.youtube.com/watch?v=e1oL3k9-hn8

ज़मीदारी सिस्टम
https://www.youtube.com/watch?v=Hp7NPo0T90Q

इकाई 12 आंतरिक व्यापार*

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन व्यापार तथा वाणिज्य

- 12.2.1 आंतरिक व्यापार
- 12.2.2 व्यापार से संबंधित वर्ग
- 12.2.3 परिवहन के साधन

12.3 मुगलों के अधीन व्यापार तथा वाणिज्य

- 12.3.1 आंतरिक व्यापार
- 12.3.2 अंतर-प्रांतीय व्यापार
- 12.3.3 निर्यात और आयात
- 12.3.4 व्यापारिक मार्ग और परिवहन के साधन
- 12.3.5 प्रशासन और व्यापार

12.4 मुगलों के अधीन व्यापार के कार्मिक और वाणिज्यिक गतिविधियाँ

- 12.4.1 व्यापारी
- 12.4.2 महाजन और सर्राफ
- 12.4.3 दलाल
- 12.4.4 वाणिज्यिक गतिविधियाँ
- 12.4.5 बैंकिग, सूदखोरी, ब्याज की दर और भागीदारी
- 12.4.6 बीमा

12.5 व्यापारी, व्यापारिक प्रतिष्ठान और राज्य

12.6 सारांश

12.7 शब्दावली

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.9 संदर्भ ग्रंथ

12.10 शैक्षणिक वीडियो

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम दिल्ली सल्तनत के अधीन व्यापार के विस्तार के विषय में अध्ययन करेगें। दिल्ली सल्तनत के काल में तीन महत्वपूर्ण गतिविधियाँ देखने को मिलती हैं। शहरों के आकार और संभवतः संख्या में भारी वृद्धि, शिल्प उत्पादन में वृद्धि और व्यापार के क्षेत्र में भी अत्याधिक विस्तार। यहाँ पर हम मुगल काल के अधीन भारत में आंतरिक व्यापार की भी चर्चा करेंगे। यहां आप इस काल के व्यापार में संलग्न व्यापारी वर्ग और वाणिज्यिक गतिविधियों के बारे में भी जान सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

***प्रो. शीरीन मूसवी, सेंटर ऑफ एडवान्स्ड स्टडी इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; और प्रो. ए. आर. खान, इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।**

यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 6, इकाई 21; और ई एच आई-04: *भारतः 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक, खंड 5, इकाई 20 और* खंड 6, इकाई 23 और इकाई 24 से ली गई है।

- स्थानीय, प्रांतीय और अंतर-प्रांतीय व्यापार के स्वरूप को समझ सकेंगे,
- व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न प्रमुख व्यापारिक समुदायों के बारे में जान सकेंगे,
- आंतरिक व्यापार की प्रमुख आयात व निर्यात की वस्तुओं की सूची बना सकेंगे,
- वाणिज्य में दलालों, सर्राफों, और महाजनों की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे,
- भारत के विदेशी व्यापार, खासतौर पर स्थल व्यापार, के प्रारूप को समझ सकेंगे, और
- *हुंडी*, वाणिज्यिक ऋण, ब्याज की दर और व्यापारिक भागीदारी जैसे पक्षों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

इकाई 11 में हमने साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में वस्तुओं के उत्पादन की चर्चा की है। हमने यह भी देखा कि वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय खपत से ज्यादा होता था। इस अधिशेष उत्पादन ने व्यापारिक गतिविधियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। कृषि उत्पादों की यह व्यापारिक गतिविधि खेत में अनाज उत्पादन के साथ ही शुरू हो जाती थी। इसी प्रकार शिल्प उत्पादन के क्षेत्र में व्यापारिक गतिविधि शिल्पी के घर से ही आरंभ हो जाती थी। यह गतिविधि स्थानीय, प्रांतीय, अंतर-प्रांतीय और देश के बाहर कई स्तरों पर घटित होती थी। इस इकाई में हम अपने अध्ययन काल के दौरान देशी और विदेशी व्यापार पर विचार-विमर्श करेंगे। राजनैतिक स्थिरता और उत्पादन में हुई वृद्धि के कारण इस काल में व्यापारिक गतिविधि में काफी तेजी आई। व्यापार में कई गुना वृद्धि हुई। वाणिज्यिक गतिविधियों के विकास से व्यापार में हिस्सा लेने वाले कुछ विशेषीकृत समुदायों का उदय हुआ। उसी के साथ-साथ कुछ आधारभूत वाणिज्यिक प्रथाएँ भी स्थापित हुईं। पूरी वाणिज्यिक प्रक्रिया में, व्यापारियों के खास विशेषीकृत समुदाय, दलाल और *सर्राफ* विभिन्न स्तरों पर अपनी भूमिका निभाते थे। बड़े पैमाने पर व्यापार होने के कारण मौजूद प्रथाएँ और संस्थाएँ मजबूत हुई और कुछ नए रूप सामने आए। बैंकिग व्यवस्था, हुंडी और ऋण लेना तथा देना कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं। व्यापारिक भागीदारी और बीमा का भी प्रचलन था।

12.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन व्यापार तथा वाणिज्य

13वीं-14वीं शताब्दी में कई बहुत बड़े और बहुत से छोटे-छोटे नगर अस्तित्व में आए और फूले-फले। अपने शिल्प उत्पादन के लिए इन शहरों को कच्चे माल और अस्तित्व के लिए भोजन की आवश्यकता थी। साथ ही भू-राजस्व की वसूली नगद के रूप में करने की प्रथा भी बढ़ रही थी। अलाउद्दीन खलजी के समय तक नगद धन में वसूली की प्रथा पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी जैसा कि हमने पिछली इकाइयों में देखा नगरों में स्थित शासक वर्गों ने लगभग संपूर्ण कृषि उत्पादन के अधिशेष पर अपना अधिकार जमा लिया था और ग्रामीण मध्यस्थ वर्गों का हिस्सा बहुत घटा दिया था।

उपरोक्त दोनों कारक आंतरिक व्यापार के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुए। भूमि कर का नगद भुगतान करने के लिए किसानों को अपनी अतिरिक्त उपज तुरंत बेचनी होती थी। जबकि व्यापारियों को नगरों के रूप में ऐसे बाज़ार प्राप्त थे जहां वे अनाज और खाद्यान्न बेच सकते थे। भू-राजस्व के भुगतान की आवश्यकता के कारण जिस व्यापार का जन्म हुआ उसे **'प्रेरित व्यापार'**(**'induced trade'**) कहते हैं।

12.2.1 आंतरिक व्यापार

आंतरिक व्यापार का विकास दो स्तरों पर हुआः i) गांव और शहर के बीच थोक वस्तुओं (मुख्य रूप से कृषि उत्पादन) का कम दूरी का व्यापार, ii) विभिन्न शहरों के बीच बहुमूल्य वस्तुओं (मुख्य रूप से शिल्प उत्पादन) का लंबी दूरी का व्यापार। जैसा कि पहले बताया जा चुका है गांव और शहर का यह व्यापार शहरों के आविर्भाव और भूमि कर की नगद वसूली का स्वाभाविक परिणाम था। नगरीय केंद्र अपने खाद्यान्न और शिल्प उत्पादन के लिए कच्चे माल की आपूर्ति के लिए आसपास के गांवों पर पूर्णतः निर्भर थे जबकि गांव में किसानों को भूमि कर का नगद

भुगतान करने के लिए अपने उत्पादन को बेचकर धन प्राप्त करना जरूरी था। इस तरह के व्यापार की सबसे बड़ी विशेषता वस्तुओं का एक दिशा में प्रवाह था। शहर अपने आसपास के गांवों से खाद्यान्न और कच्चा माल प्राप्त करते थे परंतु उन्हें अपना शिल्प उत्पादन गांवों की ओर भेजने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह गांव लगभग पूर्णतः आत्मनिर्भर थे। व्यापार के इस एक दिशा में प्रवाह का प्रमुख कारण भूमि कर का नगद भुगतान था और संभावित रूप से इसने गांवों से निरंतर निकासी की व्यवस्था को जन्म दिया तथा शहरों को पूरी तरह गांवों पर निर्भर कर दिया। इस व्यापार की मात्रा तो बहुत अधिक थी परंतु मूल्य बहुत कम था। यह व्यापार मुख्यतः गेहूँ, चावल, चना और गन्ना, आदि खाद्यान्नों में तथा शहरी शिल्प उत्पादन के लिए कच्चे माल – कपास जैसी वस्तुओं का होता था।

विभिन्न शहरों के बीच का व्यापार मुख्यतः विलासिता की वस्तुओं का था अतः अधिक मूल्य का था। एक शहर के कारीगर और शिल्प उत्पाद दूसरे शहर ले जाए जाते थे। बरनी इस तरह के व्यापार के बहुत से उदाहरण देता हैः राजधानी दिल्ली में शराब कोल (अलीगढ़) और मेरठ से आती थी, मलमल (उच्च कोटि का कपड़ा) देवगिरि से तथा धारीदार कपड़ा लखनौती (बंगाल) से आता था। इब्न बतूता के अनुसार दिल्ली में साधारण कपड़ा अवध के क्षेत्र से और पान मालवा (जिसे दिल्ली पहुंचने में 24 दिन लगते थे) से आता था। मुल्तान, शक्कर दिल्ली और लाहौर से प्राप्त करता था और घी सिरसा (हरियाणा) से। शहरों के बीच लंबी दूरी के व्यापार द्वारा विदेशों से आने वाली वस्तुएँ सीमांत के शहरों से अन्य शहरों को पहुंचती थीं तथा निर्यात वाली वस्तुएँ विभिन्न स्थानों से सीमावर्ती शहरों में। स्थल मार्गीय विदेशी व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र संभवतः मुल्तान था। यह पुनः निर्यात के केंद्र के रूप में भी कार्य करता था। गुजरात के भड़ौच और खंभात जैसे तटीय शहर विदेशी व्यापार के विनिमय केंद्रों के रूप में कार्य करते थे (जैसा की **इकाई 13** में बताया गया है)।

स्थल व्यापार

सल्तनत काल में स्थल व्यापार काफी बढ़ा। भूमि मार्गों से व्यापार का प्रमुख केंद्र मुल्तान था। मुल्तान-क्वेटा मार्ग के द्वारा भारत मध्य एशिया, अफगानिस्तान और ईरान से जुड़ा हुआ था। परंतु मध्य एशिया और ईरान में बार-बार मंगोल आक्रमणों के कारण अव्यवस्था थी इसलिए व्यापारी इस मार्ग को अधिक पसंद नहीं करते थे।

12.2.2 व्यापार से संबंधित वर्ग

सल्तनत कालीन ग्रंथों में दो प्रकार के व्यापारियों का विवरण मिलता हैः *कारवानी* अथवा *नायक* और *मुल्तानी*। जो व्यापारी अनाज का व्यापार करते थे बरनी उन्हें *कारवानी* (एक फारसी शब्द जिसका अर्थ है वे लोग जो बड़ी संख्या में एक साथ चलते हों; *कारवां* में) कहता है। उस समय के एक प्रमुख सूफी नसीरुद्दीन चिराग दिल्ली उन्हें *नायक* कहते हैं। वे उनका वर्णन करते हुए कहते हैं 'ये वे लोग हैं जो विभिन्न क्षेत्रों से अनाज लेकर शहर (दिल्ली) आते हैं – कुछ के पास अनाज से लदे 10,000 बैल होते हैं और कुछ के पास 20,000'। यह लगभग निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि *कारवानी* ही बाद के काल के *बंजारे* थे। मुगल काल के स्रोत यह स्पष्ट रूप से बताते हैं कि यह *बंजारे* समूह में रहते थे और इनका प्रमुख *नायक* कहलाता था।

मुल्तानी वह दूसरे प्रकार का महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग था जिसका वर्णन उस समय के स्रोतों में होता है। बरनी कहता है कि लंबी दूरी का व्यापार इन व्यापारियों के हाथों में था। वे ब्याज और व्यापार (*सूद-ओ-सौदा*) दोनों ही कामों में संलग्न थे। ये *साह* और *मुल्तानी* इतने धनी थे कि कुलीनों को भी ऋण देते थे। बरनी के अनुसार इस वर्ग को हमेशा धन की जरूरत रहती थी। अधिकांश *साह* और *मुल्तानी* हिंदू थे। परंतु कुछ मुसलमान *मुल्तानी* व्यापारियों का भी वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए, हमीदुद्दीन मुल्तानी को बरनी *मलिक-उत तुज्जार* (महान् व्यापारी) के नाम से संबोधित करता है। इन विशिष्ट व्यापारी वर्गों के अतिरिक्त भी अन्य, जो भी चाहे, व्यापार कर सकते थे। उदाहरण के लिए, बिहार के एक सूफी दिल्ली और गज़नी के बीच दासों के व्यापार में संलग्न थे। अनेकों धार्मिक व्यक्ति मध्य एशिया से दिल्ली आकर व्यापार में लग गए थे।

दिल्ली सल्तनत में उभरने वाला एक अन्य वर्ग दलालों का था जो व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। वे बेचने और खरीदने वालों के बीच एक संपर्क के रूप में काम करते थे और दोनों ही पक्षों से अपना कमीशन लेते थे। बरनी कहता है कि ये लोग 'बाज़ार के स्वामी' (*हाकिमान-ए बाज़ार*) थे। उसके अनुसार बाज़ार में कीमतें बढ़ाने के लिए भी यह उत्तरदाई थे। वस्तुओं की कीमतें निर्धारित करते समय अलाउद्दीन खलजी दलालों से परामर्श लेता था और पूछता था कि प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में कितनी लागत आती है। बरनी 'प्रधान' दलाल (*मिहतरान-ए दल्लालान*) का उल्लेख भी करता है। इससे ऐसा आभास मिलता है कि दलालों का एक निश्चित संघ भी होता था। परंतु इसके विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। अलाउद्दीन खलजी के काल में इन 'प्रधान' दलालों के साथ बहुत कड़ाई की गई। लेकिन फिरोज़ तुगलक के काल तक इस वर्ग ने अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर ली। फिरोज़ तुगलक ने दलालों पर लगाए जाने वाले *दलालत-ए बाज़ारहा* नामक कर भी समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त यह नियम भी बनाया गया कि अगर खरीदने और बेचने वाले के बीच सौदा न हो सके तब भी दलाल लिया हुआ कमीशन वापस करने के लिए बाध्य नहीं थे। इससे यह भी आभास मिलता है कि तुगलक काल में दलाली एक भली प्रकार स्थापित संस्था का रूप ले चुकी थी।

सर्राफ एक अन्य व्यवसायिक वर्ग था। इसकी भूमिका भी दलाल से कम महत्वपूर्ण नहीं थी। मुद्रा विनिमय के कारण यह व्यापारियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण थे, विशेषकर विदेशी व्यापारियों के लिए जो अपने देश की मुद्राएँ लेकर आते थे। वे सिक्कों में धातु की शुद्धता (भारतीय व विदेशी) की जांच करते थे और सिक्कों के विनिमय की दर निर्धारित करते थे। वे ***हुंडी*** (इसे फारसी में *सुफ्ताजा* कहते थे) भी जारी करते थे और ऋण पत्र भी देते थे। इस रूप में वे एक 'बैंक' की भांति कार्य करते थे। तुर्कों के आगमन के बाद कागज के प्रचलन के कारण *हुंडी* की प्रथा बहुत तेजी से बढ़ी। इन सभी सेवाओं या कार्यों के बदले *सर्राफ* अपना एक निश्चित कमीशन लेते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस काल के व्यापारिक क्रिया-कलापों में दलाल और *सर्राफ* की केंद्रीय भूमिका थी। वे कई महत्वपूर्ण आर्थिक संस्थाओं के अभिरक्षक थे। वास्तव में कोई भी व्यापारी इनके बिना कार्य नहीं कर सकता था।

12.2.3 परिवहन के साधन

ऐसा प्रतीत होता है कि माल ढोने के लिए पशु और बैलगाड़ी दोनों का प्रयोग होता था। संभवतः पशुओं की पीठ पर लादकर अधिक माल ढोया जाता था। इब्न बतूता लिखता है कि उसने देखा कि लगभग 3000 बैलों की पीठ पर लगभग 30,000 मन अनाज लादकर अमरोहा से दिल्ली जा रहा था। अफीफ के अनुसार पैसा देकर बैलगाड़ी पर बैठकर लोग यात्रा भी करते थे। माल ढोने वाले पशु, परिवहन का बहुत सस्ता माध्यम था। यह पशु धीरे-धीरे रास्ते में चरते हुए बड़े झुण्डों में चलते थे जिससे परिवहन का खर्च कम होता था, विशेष रूप से रेगिस्तानी मार्गों पर। इब्न बतूता लिखता है कि पूर्ण साम्राज्य विशेष मार्गों से जुड़ा था जिन पर बराबर दूरी पर स्तंभ तथा मीनारें बनाई जाती थीं। *मसालिक-उल अबसार* के लेखक शहाबुद्दीन *अल-उमरी* के विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य द्वारा व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने का प्रयास किया जाता था। हर पड़ाव (*मनाज़िल*) पर *सराय* बनाई जाती थी। बंगाल में इवाज़ खलजी ने बाढ़ रोकने के लिए लंबे बांध बनाए। नदियों के मार्ग से थोक माल ले जाने के लिए नावों की व्यवस्था की जाती थी, जबकि समुद्री व्यापार के लिए जहाजों की व्यवस्था थी।

बोध प्रश्न-1

1) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिएः

क) बंजारे .....

.....

ख) मुल्तानी .....

.....

ग) 'प्रेरित व्यापार'.....

.....

घ) दलाल और *सर्राफ* .....

.....

2) 13वीं-14वीं शताब्दी भारत के प्रमुख स्थल व्यापार मार्गों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

.....

3) दिल्ली सल्तनत के अधीन व्यापार के विकास में सहायक कारकों का विवरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

12.3 मुगलों के अधीन व्यापार तथा वाणिज्य

इस भाग में हम स्थानीय, प्रांतीय, तटीय और अंतर-प्रांतीय स्तरों पर आंतरिक व्यापार की चर्चा करेंगे।

12.3.1 आंतरिक व्यापार

जैसा की **इकाई 10** में बताया जा चुका है: भू-राजस्व नगद में वसूल किया जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिशेष कृषि उत्पाद को बेचा जाता था। इसका अधिकांश हिस्सा गांव में ही बेचा जाता था। इनमें से अधिकांश *बंजारों* (परंपरागत अनाज व्यापारी) द्वारा खरीद लिया जाता था और वे इसे दूसरे शहरों और बाज़ारों में ले जाया करते थे। टेवर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्री 17वीं शताब्दी में भारत आया था, वह बताता है कि लगभग प्रत्येक गांव में चावल, आटा, मक्खन, दूध, सब्जी, चीनी और विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ खरीदी जा सकती थीं। यहाँ तक कि कई गांवों में भेड़, बकरी, मुर्गा आदि भी उपलब्ध होते थे। उसके अनुसार प्रत्येक बड़े गांव में एक *सर्राफ* या मुद्रा विनिमयदाता होता था। इसके अलावा क्षेत्र विशेष के प्रत्येक शहर में एक बाज़ार होता था जहां आसपास के लोग सामानों की खरीद-बिक्री किया करते थे। इन नियमित बाज़ारों के अतिरिक्त *हाट* और *पेंठ* भी लगते थे जहाँ गांव के लोग रोजमर्रा की वस्तुओं का आदान-प्रदान कर सकते थे या खरीद-बेच सकते थे। ये *हाट* या *पेंठ* नियतकालिक बाज़ार होते थे जो सप्ताह में किसी खास दिन लगाए जाते थे। इस प्रकार के कुछ *हाट* किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए भी होते थे।

इन स्थानीय बाज़ारों में साधारणतः अनाज, नमक, कृषि और घरेलू उपयोग के लिए लकड़ी और लोहे के बने साधारण औजार और मोटे सूती कपड़े उपलब्ध होते थे।

इस प्रकार के बाज़ार सभी छोटे कस्बों और बड़े गांवों में स्थित होते थे। 17वीं शताब्दी के मध्य के जौनपुर के बारे में बनारसी दास लिखते हैं कि इसमें 52 *परगने*, 52 बाज़ार और 52 थोक बाज़ार या मंडियाँ थीं। इस विवरण से ऐसा लगता है कि प्रत्येक *परगने* में कम से कम एक बाज़ार और एक *मंडी* या थोक बाज़ार होता था।

इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में छोटे और बड़े बाज़ारों यथा *हाट, पेंठ, मंडी* और व्यक्तिगत रूप से व्यापारियों के माध्यम से व्यापारिक गतिविधियाँ चलती रहती थीं। तपन रेचौधरी के अनुसार प्रत्येक गांव और उसमें स्थित *मंडी* विनिमय और वस्तुओं के वितरण की कड़ी के रूप में काम करती थी। ये स्थानीय व्यापारिक केंद्र उस क्षेत्र के बड़े वाणिज्यिक केंद्रों से जुड़े होते थे।

अगर हम मुगल *सूबों* को एक क्षेत्र की तरह लें तो प्रत्येक मुगल प्रांत में एक बड़ा वाणिज्य केंद्र होता था जहाँ *सूबा* के विभिन्न हिस्सों में उत्पन्न वस्तुओं का व्यापार होता था। आमतौर पर ये बड़े शहर *सूबा* के प्रशासनिक मुख्यालय हुआ करते थे। पटना, अहमदाबाद, सूरत,

ढाका, आगरा, दिल्ली, लाहौर, मुल्तान, अजमेर, थट्टा, बुरहानपुर, मसूलीपट्टम, बीजापुर, हैदराबाद, कालीकट, कोचीन, आदि इस प्रकार के व्यापारिक केंद्रों के कुछ उदाहरण हैं। हमारे स्रोतों से पता चलता है कि इन वाणिज्यिक केंद्रों में केवल उस प्रांत की वस्तुएं ही नहीं मिलती थीं, बल्कि यहाँ दूसरे प्रांतों और विदेशों से बनी वस्तुएँ भी उपलब्ध होती थीं। प्रत्येक शहर में कई बाज़ार होते थे। केवल अहमदाबाद और उसके आसपास लगभग 19 मंडियाँ थीं।

अगर बाज़ार पर लगाए गए वाणिज्यिक कर को बाज़ार के आकार का सूचकांक माना जाए तो 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अहमदाबाद से प्रतिवर्ष 42,86,000 *दाम* वाणिज्य कर वसूला जाता था। इसी प्रकार दिल्ली, आगरा, ढाका और लाहौर में अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग बाज़ार होता था। यह कहा जाता है कि दिल्ली में बड़े कुलीनों के लड़के बिना किसी परेशानी के एक दिन में एक लाख रुपये खर्च कर सकते थे। 16वीं शताब्दी के अंत के गोवा के बारे में लिखते हुए जे. लिंशोटन बताते हैं कि शहर के मुख्य मार्ग पर प्रतिदिन नीलामी होती थी। वह यह भी बताता है कि एक मार्ग पर बहुत सी दुकानें थीं जिनमें सभी प्रकार के रेशमी, मखमली, साटन के कपड़े, चीन के बने चीनी मिट्टी के बर्तन, लिनन और सभी प्रकार के वस्त्र मिलते थे। इन शहरों में बड़ी संख्या में व्यापारी, दलाल और *सर्राफ* रहते थे। बाहरी व्यापारियों और यात्रियों के रहने के लिए इन शहरों में *सरायों* की व्यवस्था थी।

इन केंद्रों के पास शहरों, कस्बों और गांवों से चीजें बिकने के लिए आती थीं, मसलन पटना में रेशम, बैकुंठपुर से सूती वस्त्र, नंदनपुर और सालिमपुर से और *सूबा* के अन्य भागों से सब्जियां, अफीम और चीनी आती थी।

कुछ शहर कुछ खास चीजों के व्यापार के लिए विशेष बाज़ार समझे जाते थे। मसलन बुरहानपुर (कपास मंडी), अहमदाबाद (कपड़ा), कैम्बे (रत्न बाज़ार), सूरत-सरखेज (नील), आगरा-बयाना (नील), आदि के लिए। इन सभी वाणिज्यिक केंद्रों में टकसालें होती थीं जिनमें चांदी, तांबे और कभी-कभी सोने के सिक्के भी ढाले जाते थे।

12.3.2 अंतर-प्रांतीय व्यापार

विवेच्य काल में भारत का अंतर-प्रांतीय व्यापार काफी विकसित था। यातायात के खर्च और आवागमन में लगने वाले समय को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अंतर-प्रांतीय व्यापार का परिमाण काफी ऊंचा था। व्यापार के लिए वस्तुएँ एक जगह से दूसरी जगह सैकड़ों और कभी-कभी हजारों मील दूर ले जाई जाती थीं। अंतर-प्रांतीय व्यापार में अनाज और विभिन्न प्रकार के कपड़ों का विशेष स्थान था। लंबी दूरी के व्यापार में विलास की वस्तुएँ, धातु और अस्त्र भी शामिल होते थे। इन सभी वस्तुओं की सूची प्रस्तुत करना संभव नहीं है। यहाँ हम कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं की संक्षिप्त जानकारी देंगे।

पूर्व में, बंगाल का भारत के सभी हिस्से से व्यापार संबंध काफी विकसित था। हुगली, ढाका, मुर्शिदाबाद, मालदा, सतगांव, टांडा, हिजिली, श्रीपुर, और सोनारगांव बंगाल के महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र थे। इनमें हुगली व्यापार का सर्वप्रमुख केंद्र था।

यहाँ बिहार, उड़ीसा और बंगाल के कुछ भागों से माल लाया जाता था। बंगाल पूरे देश को अनाज की आपूर्ति करता था। पटना से चावल और चीनी बंगाल के बाज़ारों में आती थी। बिहार, बनारस और जौनपुर से विभिन्न प्रकार के कपड़े बंगाल में खरीदे जा सकते थे। पटना के निकट लखावर कपड़ा उत्पादन का प्रमुख केंद्र था। यहाँ भारत के विभिन्न हिस्सों और यहाँ तक कि विदेश से आए व्यापारी माल खरीदते थे। बंगाल में बना कपड़ा पटना से लेकर गुजरात में अहमदाबाद तक उपलब्ध था। गुजरात और बिहार में बड़े पैमाने पर निर्मित रेशम (सिल्क) के लिए कच्चा माल बंगाल से आता था। इस कच्चे माल से बना रेशम वस्त्र देश के सभी हिस्सों में तथा विदेश भेजा जाता था। कश्मीर का केसर आसानी से बंगाल और बिहार के बाज़ारों में मिल जाता था। बुरहानपुर में बनने वाला छींट का कपड़ा भी बंगाल के बाज़ारों में मिलता था। बंगाल का आगरा, बनारस और उत्तर भारत के अन्य शहरों के साथ नियमित व्यापारिक संबंध था।

पश्चिम में, अहमदाबाद और सूरत सबसे बड़े वाणिज्यिक केंद्र थे, यहां के बाज़ारों में भारत के दक्षिण, उत्तर और पूर्वी भागों में बने कपड़े उपलब्ध होते थे। बेचने के पहले यहाँ उन्हें विरंजित

(bleach) किया जाता था और रंगा जाता था। बंगाल के कच्चे रेशम से गुजरात में रेशम का वस्त्र बनाया जाता था और उसे उत्तर के बाज़ारों में ले जाया जाता था। गुजरात को काली मिर्च और मसाले मालाबार तट से प्राप्त होते थे। गुजरात से कपड़ा मुल्तान और लाहौर ले जाया जाता था। गुजरात में लाख बंगाल से आता था, अपनी गुणवत्ता के लिए प्रसिद्ध सरखेज नील गुजरात से भारत के विभिन्न प्रांतों में भेजा जाता था। गुजरात, कोंकण और मालाबार के शहरों के बीच व्यापक पैमाने पर व्यापार होता था।

उत्तर में, आगरा में काफी मात्रा में रेशम बंगाल से आता था। अवध क्षेत्र से कालीन और कपड़े, गुजरात, बंगाल, पटना, लाहौर और मुल्तान ले जाए जाते थे। केसर, लकड़ी का सामान, फल, ऊनी शॉल आदि कश्मीर से उत्तर, पश्चिम और पूर्वी भारत के बाज़ारों में आता था। कश्मीर से मुल्तान, आगरा और दिल्ली तक बर्फ भेजी जाती थी। शाहज़ादपुर (इलाहाबाद के पास) से भारत के सभी हिस्सों में कागज भेजा जाता था। बयाना (आगरा के निकट) का प्रसिद्ध नील लाहौर, मुल्तान और दक्षिणी भागों में भेजा जाता था। राजस्थान का प्रसिद्ध संगमरमर देश के सभी हिस्सों, खासकर आगरा और दिल्ली में भेजा जाता था। उत्तर से अनाज गुजरात तक ले जाया जाता था।

दक्षिण में होने वाला अधिकांश व्यापार तटों के समीप होता था। बंगाल में उत्पन्न नील को काफी मात्रा में मसूलीपट्टम में बेचा जाता था। मालाबार तट से काली मिर्च और मसाले बीजापुर, कोरोमंडल और कोंकण तट तक ले जाए जाते थे और मसूलीपट्टम से गुजरात का तंबाकू बंगाल ले जाया जाता था। गोलकुंडा की खानों से पूरे भारत को हीरे की प्राप्ति होती थी।

खनिज और धातु किसी खास जगह ही प्राप्त होते थे, मुगल भारत में देश के सभी भागों में उन्हें व्यापारियों द्वारा पहुंचाया जाता था। नमक का उत्पादन मुख्य रूप से राजस्थान और पंजाब में होता था पर उन्हें उत्तरी और दक्षिणी भारत के सभी हिस्सों में पहुंचाया जाता था। तटीय प्रदेशों में समुद्र से वाष्पीकरण द्वारा नमक प्राप्त किया जाता था। मध्य भारत में ग्वालियर, राजस्थान, पंजाब और सिंध लोहे के प्रमुख स्रोत थे। अच्छी कोटि का इस्पात गुजरात में कच्छ, दक्खन और दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में पाया जाता था। तांबे का उत्पादन अधिकांशतः राजस्थान में होता था। बिहार, सिंध, राजस्थान और उत्तर भारत के कई हिस्सों से शोरा प्राप्त किया जाता था।

12.3.3 निर्यात और आयात

शताब्दियों से भारत का व्यापारिक संबंध अन्य देशों के साथ रहा है। कालांतर में व्यापार की पद्धति और व्यापार में शामिल वस्तुओं में परिवर्तन होता रहा। 16वीं और 17वीं शताब्दी के दौरान भी भारत का अन्य देशों के साथ समृद्ध व्यापारिक लेन-देन कायम था। इस काल के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषता यूरोपियों का भारत में आगमन था। इससे भारत के विदेश व्यापार में कई गुना वृद्धि हुई। इस विदेशी व्यापार में भारतीय माल का निर्यात बहुत अधिक था जबकि आयात की मात्रा काफी कम थी। इस भाग में हम स्थल मार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार की चर्चा करेंगे।

निर्यात

मुख्य रूप से कपड़ा, शोरा और नील का निर्यात किया जाता था। चीनी, अफीम, मसाले और अन्य विभिन्न उत्पादन निर्यात की अन्य वस्तुएँ थीं।

कपड़ा

इस काल के दौरान भारत में कपड़ा उत्पादन अपने उत्कर्ष पर था। निर्यात बढ़ने से उत्पादन में काफी तेजी से वृद्धि हुई।

यूरोपीय व्यापारियों के आने से पहले मुगल, खोरासानी, इराकी और आर्मीनियन भारतीय कपड़े के मुख्य खरीददार थे। ये इन कपड़ों को मध्य एशिया, ईरान और तुर्की ले जाते थे। भारत के विभिन्न भागों से खरीदी गई इन वस्तुओं को लाहौर के रास्ते स्थल मार्ग से ले जाया जाता था। व्यापार के कुल परिमाण का अनुमान लगाना कठिन है। 17वीं शताब्दी के बाद से ही डच और अंग्रेजों ने भारतीय कपड़ों का व्यापार करना शुरू कर दिया था। व्यापार के लिए कपड़ों की कई किस्में उपलब्ध थीं जैसे *बाफ्ता*, *समानी*, *खैराबादी*, *दरियाबादी*, *अमबर्ती*, *कायमखानी*, अन्य कई तरह के सूती कपड़े और मलमल तथा मोटा सूती कपड़ा (calico)। बाद में पूर्वी तट से भी सूती

वस्त्रों के कई प्रकार प्राप्त किए जाने लगे। छींट और रंगीन कपड़ों की विदेशों में खूब मांग थी। गुजरात, जौनपुर और बंगाल के कालीनों का भी निर्यात होता था।

शोरा

शोरा से बारुद बनाया जाता था और यूरोप में इसकी काफी मांग थी। 16वीं शताब्दी के दौरान इसके निर्यात का कोई हवाला नहीं मिलता है। 17वीं शताब्दी में, डच कंपनी ने कोरोमंडल से इसका निर्यात आरंभ किया। इसके बाद अंग्रेजों ने भी इस पथ का अनुगमन किया। 17वीं शताब्दी के दौरान डच और अंग्रेज कोरोमंडल, गुजरात और आगरा से इसका काफी मात्रा में निर्यात कर रहे थे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बिहार से उड़ीसा होकर और बंगाल के तटों से इसका निर्यात आरंभ हुआ। जल्दी ही बिहार महत्वपूर्ण निर्यातक बन गया।

1658 के बाद अंग्रेज केवल बंगाल के तटों से प्रतिवर्ष 25,000 मन शोरा निर्यात कर रहे थे। 1680 के बाद यह मात्रा और भी बढ़ गई। डच कंपनी की मांग इससे लगभग चार गुना अधिक थी। 18वीं शताब्दी के दौरान भी अंग्रेज शोरा की मांग करते रहे।

नील

अधिकांश उत्तरी भारत, पंजाब, सिंध और गुजरात में नील का उत्पादन होता था। इसका उपयोग रंगाई के लिए नीले रंग के रूप में होता था। निर्यात के लिए सरखेज (गुजरात) और बयाना (आगरा के निकट) में बनाई जाने वाली नील की काफी मांग थी। पहले यह गुजरात से ईरान की खाड़ी और लाहौर से एलेप्पो के बाज़ारों में भेजा जाता था। बाद में यूरोपीय कंपनियाँ भी इसका व्यापार करने लगीं।

16वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से पुर्तगाली इसका निर्यात करने लगे थे। ऊनी कपड़ों की रंगाई के लिए यूरोप में इसकी मांग काफी अधिक थी। 17वीं शताब्दी के दौरान डच और अंग्रेजों ने इसका निर्यात करना आरंभ किया। इसके अलावा ईरान के व्यापारी इसे एशिया के बाज़ारों और पूर्वी यूरोप के लिए खरीदते थे। आर्मीनियन भी इसे काफी मात्रा में खरीदते थे। 17वीं शताब्दी के दौरान इसे प्राप्त करने के लिए डच, अंग्रेजों, ईरानियों, मुगलों और आर्मीनियनों के बीच प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई। 17वीं शताब्दी के मध्य के आसपास डच और अंग्रेज प्रतिवर्ष लगभग 15,000 या 30,000 मन नील प्राप्त कर रहे थे। बाद के वर्षों में यह मांग बढ़ती चली गई।

अन्य वस्तुएँ

ऊपर उल्लिखित वस्तुओं के अलावा भारत से और भी कई चीजों का निर्यात होता था। फ्रांसीसी, डच और अंग्रेज कंपनियाँ अफीम खरीदा करती थीं। मुख्य रूप से बिहार और मालवा से इसकी आपूर्ति होती थी। डच और इंग्लिश कंपनी बंगाल से भारी मात्रा में चीनी की भी खरीद करती थीं। डच यूरोप को अदरक का निर्यात करते थे। आर्मीनियन हल्दी, अदरक और सौंफ का निर्यात करते थे। गुजरात और इंडोनेशियाई द्वीप समूह के बीच बड़े पैमाने पर व्यापारिक गतिविधियाँ होती थीं। यहाँ से थोक मात्रा में कपड़ा इंडोनेशिया ले जाया जाता था और बदले में मसाले लाये जाते थे। भारत में बने सूती रंगीन और छींट के कपड़ों की खूब मांग थी। बाद में यह व्यापार कोरोमंडल तट से होने लगा, यहां से कपड़े का निर्यात और मसालों का आयात होने लगा।

आयात

भारत में होने वाले निर्यात की तुलना में आयात कुछ चुनी हुई वस्तुओं तक ही सीमित था। मुख्य रूप से चांदी का आयात होता था। यूरोपीय कंपनियां और यूरोप और एशिया के व्यापारी यहाँ से सामान खरीदकर चांदी में भुगतान करने के लिए चांदी का आयात करते थे। थोड़ा बहुत तांबे का भी आयात होता था। भारत में सीसा और पारे का भी आयात होता था। अंग्रेज चीन से भारत में रेशम और चीनी मिट्टी के बर्तन का आयात करते थे। ईरान से अच्छी किस्म की शराब, कालीन और इत्र का आयात होता था। यूरोप में निर्मित चित्र-शीशों (cut glass), घड़ियों, चांदी के बर्तनों और छोटे औजारों की भारत के कुलीन वर्ग में मांग थी। सैन्य उपयोग के लिए मध्य एशिया से घोड़ों का आयात किया जाता था। राज्य घोड़ों का प्रमुख खरीदार था। इसके अतिरिक्त भारत का पड़ोसी पहाड़ी राज्यों से भी व्यापारिक संबंध था। भूटान और नेपाल से कस्तूरी भारत लाई

जाती थी यहाँ यह यूरोपीय व्यापारियों द्वारा खरीदी जाती थी। नेपाल और तिब्बत से सुहागा का आयात किया जाता था। इन पहाड़ी राज्यों को इसके बदले में अनाज और लोहा भेजा जाता था।

बोध प्रश्न-2

1) आंतरिक व्यापार में *हाट* और *पेंठ* की भूमिका का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) अंतर्देशीय व्यापार के दस केंद्रीय स्थानों की सूची प्रदान कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) गुजरात से भारत के अन्य हिस्सों में होने वाले अंतर्देशीय व्यापार की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

4) यूरोप में निर्यात होने वाली प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं की सूची प्रदान कीजिए।

.....

.....

.....

.....

5) भारत से निर्यात होने वाले नील पर टिप्पणी लिखिए। और भारत में आयात होने वाली व्यापारिक वस्तुओं की सूची भी प्रदान कीजिए।

.....

.....

.....

.....

12.3.4 व्यापार मार्ग और यातायात के साधन

अंतर-प्रांतीय और विदेश व्यापार के लिए व्यवस्थित व्यापारिक मार्ग और विकसित यातायात व्यवस्था की बहुत आवश्यकता थी। इस भाग में हम इन दो मुद्दों पर विचार-विमर्श करेंगे, जिनका वाणिज्यिक गतिविधियों के लिए खास महत्व था।

अंतर्देशीय व्यापारिक मार्ग

17वीं शताब्दी के आरंभ में भारत के विभिन्न वाणिज्यिक स्थलों के व्यापारिक मार्गों से जोड़ने में मुगल सम्राटों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

आमतौर पर सड़कों की देखभाल राज्य या क्षेत्र विशेष के राजा/स्वायत्त सरदार किया करते थे। इन मार्गों के बीच कई नदियाँ पड़ती थीं, जिनको घाटों पर नाव द्वारा पार किया जाता था और कभी-कभी पुल भी बनाए जाते थे। इनका निर्माण और देख-रेख राज्य या कुलीन वर्ग किया करता था। वर्षा ऋतु में इन सड़कों पर यात्रा करना कठिन कार्य होता था क्योंकि मानसून के दौरान सड़के खराब हो जाती थीं। कई यात्रियों ने बरसात के दौरान सूरत-बुरहानपुर मार्ग की

बिगड़ी स्थिति का उल्लेख किया है। सड़कों की पहचान बताने और दूरी बताने के लिए राज्य ने जगह-जगह पर *कोस मीनारें* बनाई थीं। पर हमारे स्रोत बताते हैं कि उन्हीं मार्गों पर *कोस मीनारें* बनाई जाती थीं जो अधिक उपयोग में आते थे।

सभी प्रमुख मार्गों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर *सरायें* होती थीं। व्यापारी और *यात्रीयों* इनमें ठहरा करते थे। रहने के अलावा बड़ी *सरायों* में यात्रियों के सामान को ज्यादा दिनों तक सुरक्षित रखने की भी व्यवस्था थी।

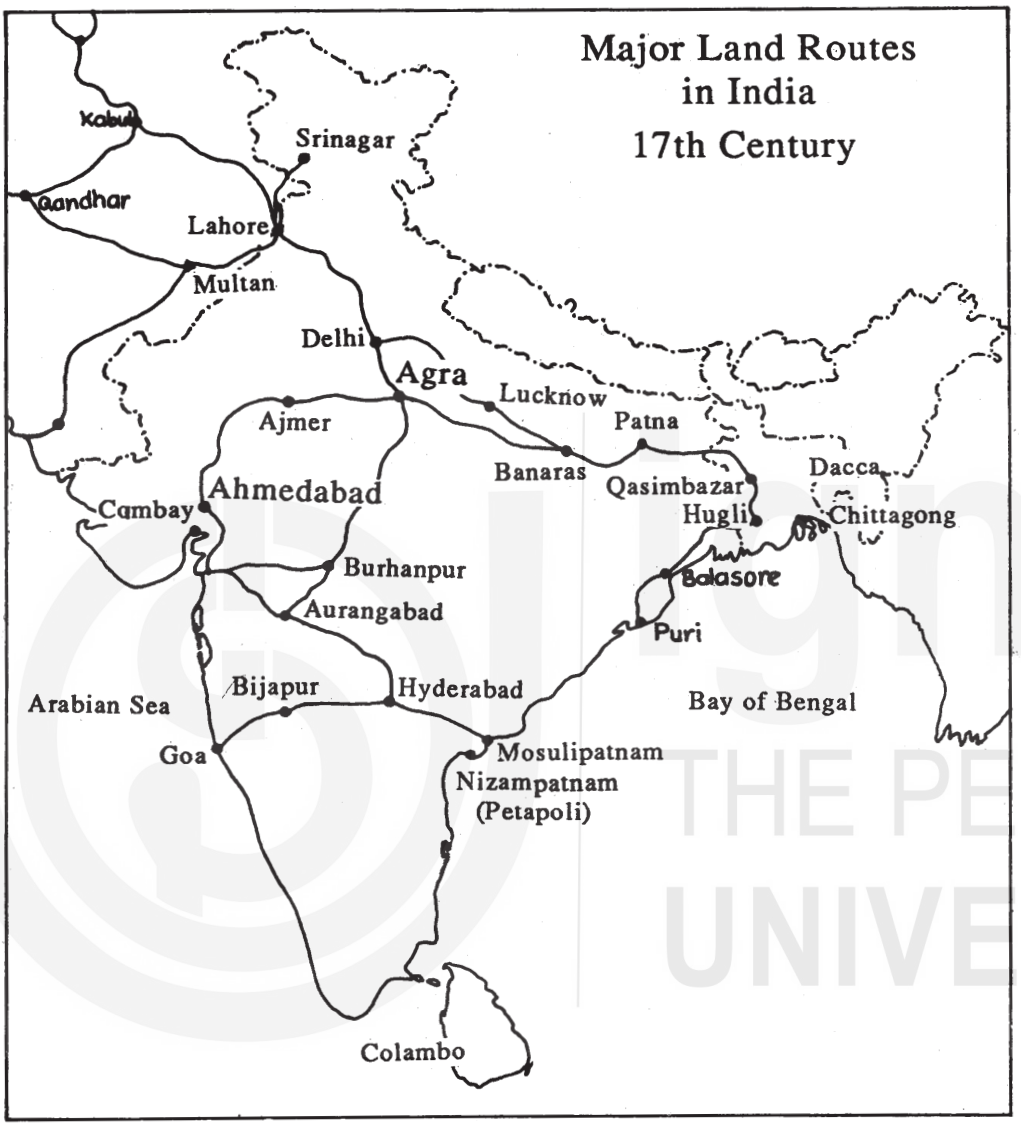

मानचित्र 12.1: 17वीं शताब्दी में भारत के मुख्य व्यापार मार्ग

स्रोत: ई एच आई-04: *भारत: 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक*, खंड 6, इकाई 23, पृ. 37

आपकी जानकारी के लिए हम नीचे कुछ प्रमुख व्यापारिक मार्गों की चर्चा कर रहे हैं।

आगरा-दिल्ली-काबुल मार्ग

आगरा-फरीदाबाद-दिल्ली-सोनीपत-पानीपत-करनाल-अंबाला-लुधियाना-फतेहपुर-लाहौर-रोहतासगढ़-रावलपिंडी-शमसाबाद-पेशावर-फतेहाबाद-काबुल

आगरा-बुरहानपुर-सूरत मार्ग

आगरा-धौलपुर-ग्वालियर-नरवर-सिरोंज-हंडिया-बुरहानपुर-तलनेर-नंदुरबार-किर्का-सूरत

सूरत-अहमदाबाद-आगरा

सूरत-भडौंच-बड़ौदा-अहमदाबाद-पालमपुर-जालौर-मेड़ता-लुडाना-हिंडौन-फतेहपुर-सीकरी-आगरा

आगरा-पटना-बंगाल मार्ग

आगरा-फिरोज़ाबाद-इटावा-सराय शहजादा-इलाहाबाद-बनारस-सहसराम-दाउदनगर-पटना-मुंगेर-भागलपुर-राजमहल-दामपुर-ढाका

आगरा से लेकर बंगाल तक नदी मार्ग, थल मार्ग के लगभग समानांतर था।

विदेशी व्यापार के लिए मार्ग

विदेशी और भारतीय व्यापारी जल और थल दोनों मार्गों का उपयोग करते थे।

थल मार्ग

मध्यकाल का सबसे प्रमुख थल मार्ग 'बृहद रेशम मार्ग'('Great Silk Route') था। यह 'बृहद रेशम मार्ग' बीजिंग से शुरू होकर काशगर, समरकंद, बल्ख और काबुल होते हुए मध्य एशिया से गुज़रता था। भारतीय थल मार्ग इस बृहद मार्ग से लाहौर में जाकर मिलता था। तत्पश्चात् मुल्तान और कांधार से गुजरता हुआ यह यज़्द और इस्फहान होते हुए ईरान में प्रवेश करता था; बगदाद और यूफ्रेट्स को पार करने के बाद यह एलेप्पो पहुंचता था। वहाँ से यूरोपवासी वस्तुओं को जहाजों में लाद कर ले जाया करते थे।

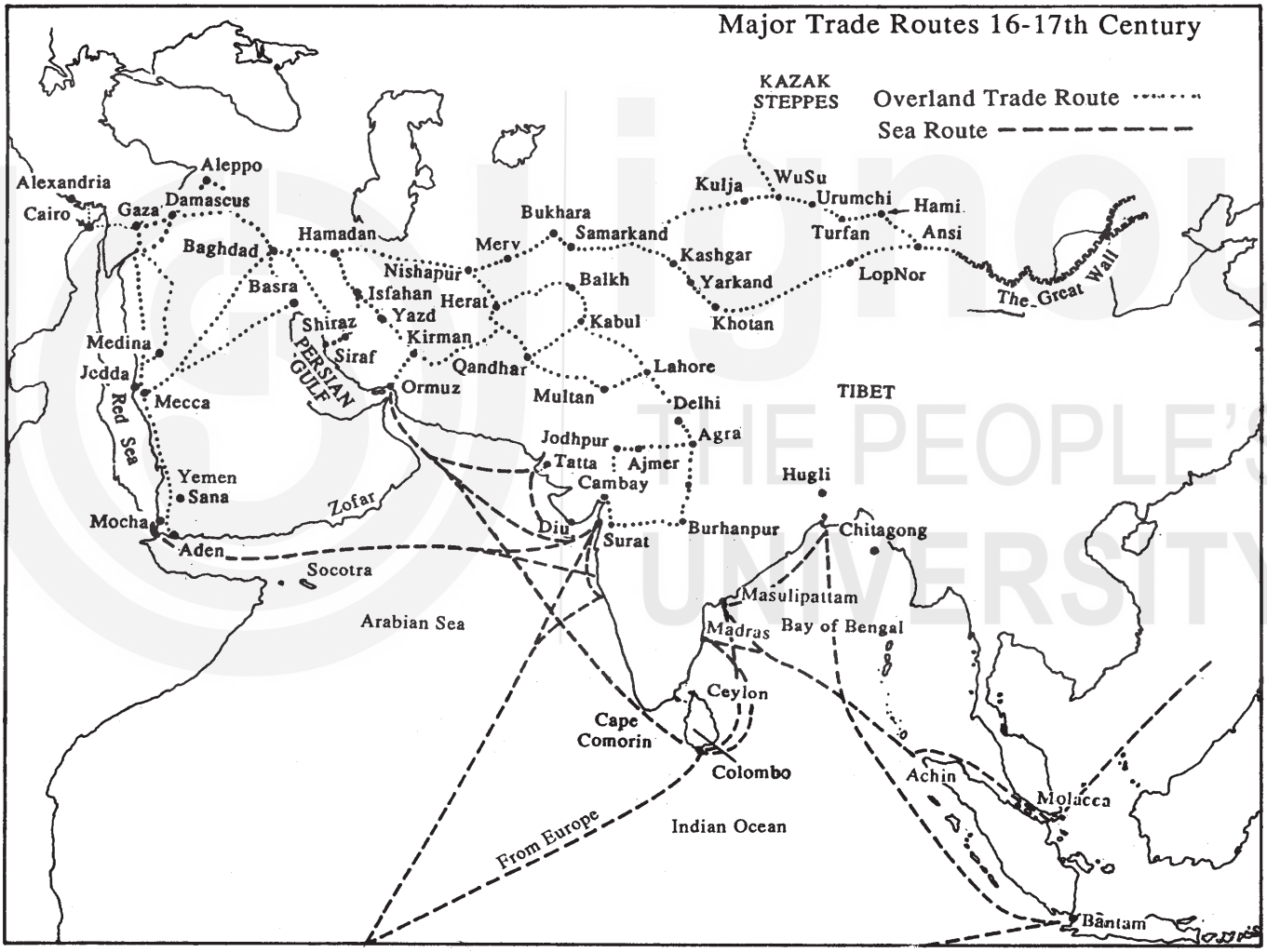

मानचित्र 12.2: 16वीं-17वीं शताब्दी के मुख्य व्यापारिक मार्ग

स्रोत: ई एच आई-04 *भारत: 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक*, खंड 6, इकाई 23, पृ. 39

यातायात के साधन

यहां यातायात के साधनों पर विचार करते हुए हम केवल वाणिज्य के काम में आने वाले साधनों पर ही विचार करेंगे।

थल यातायात

यातायात में बैलों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उन पर सामान लादकर ढोया जाता था। इस काल में इस बात का हवाला मिलता है कि *बंजारों* के एक व्यापारिक *कारवां* में 10,000 से 20,000

बोझा ढोने वाले जानवर शामिल होते थे जो अनाज ढोते थे। इन्हें *टांडा* कहते थे। *बंजारों* के अतिरिक्त दूसरे व्यापारी भी माल ढोने के लिए इनका उपयोग करते थे। बैलगाड़ियों को भी माल के यातायात में प्रयुक्त किया जाता था। एक बैल चार मन और एक बैलगाड़ी 40 मन तक माल ढो सकती थी। बैलगाड़ियों को खींचने वाले बैल 20 से 30 दिन तक बिना किसी रूकावट के और प्रतिदिन 20 से 25 मील चल सकते थे। देश के पश्चिमी हिस्से में सामान ढोने के लिए ऊंटों का उपयोग किया जाता था। वे स्थल मार्ग के रास्ते माल ढोकर ईरान और मध्य एशिया तक पहुंचाते थे।

ऊंचे पहाड़ी इलाकों पर भारी सामान ढोने के लिए पहाड़ी घोड़ों, खच्चरों और गधों का उपयोग किया जाता था। यहाँ आदमी भी भार ढोते थे।

नदी यातायात

भारत में नदियों की बहुलता थी और इनका व्यापारिक मार्ग के रूप में उपयोग होता था। बंगाल और सिंध में नौकाओं का खूब उपयोग होता था। आगरा और बंगाल के बीच नौकाओं से काफी माल आता-जाता था। आगरा से चली नौकायें यमुना के रास्ते इलाहाबाद पहुंचती थीं वहां संगम पर वह गंगा मार्ग पकड़कर बंगाल पहुंच जाती थीं। समकालीन स्रोत आगरा और बंगाल के बीच बड़ी संख्या में नौकाओं के चलने की सूचना देते हैं। मैनरीक यह बताते हैं कि राजमहल में लगभग 2000 नौकाएँ तट पर खड़ी देखी जा सकती थीं। हमारे स्रोतों के अनुसार सिंध में 40,000 नावें प्रयोग में आती थीं।

पटना और हुगली के बीच चलने वाले '*पटेला*' (एक प्रकार की चपटी नांव) पर 120 से 200 टन तक माल लादा जा सकता था। माल ढोने वाली नौकाएँ 1000 से 2000 मन तक सामान ढो सकती थीं।

नदी के वेग के साथ चलते समय इनकी गति तेज होती थी। आमतौर पर इसमें थलमार्ग की अपेक्षा आधा समय लगता था। इसके अलावा नदी यातायात सस्ता भी था। उदाहरण के लिए, नदी के जरिए मुल्तान से थट्टा तक माल ले जाने का खर्च $\frac{3}{4}$ रुपये प्रति मन और स्थल मार्ग से इससे कम दूरी के लिए यह खर्च 2 रुपये प्रति मन होता था।

12.3.5 प्रशासन और व्यापार

मुगल सम्राट व्यापारिक गतिविधियों में रुचि लिया करते थे। व्यापार को बढ़ावा देते थे और समय-समय पर व्यापारियों को रियायतें देते थे।

भू-राजस्व के अतिरिक्त अन्य कर

साम्राज्य की कुल आय में भू-राजस्व के अतिरिक्त अन्य करों के योगदान का ठीक-ठीक ब्योरा देना बहुत कठिन है। शीरीन मूसवी (1987) के अनुसार गुजरात और आगरा *सूबे* (प्रांत) में यह क्रमशः 18 प्रतिशत और 15 प्रतिशत के आसपास था जबकि अन्य *सूबों* में यह 5 प्रतिशत से भी कम था।

हस्तशिल्प उत्पादन पर कर, बाज़ार कर, अंतःराष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों तरह के व्यापारियों पर सीमा शुल्क और *राहदारी* (पथकर) और सिक्कों की ढलाई पर कर आय के मुख्य स्रोत थे। इनके अलावा युद्ध की लूट, नज़रानों और भेटों से भी राजकोष समृद्ध होता था।

बाज़ार में बेची जाने वाली लगभग सभी वस्तुओं पर कर लगता था। इनमें कपड़ा, चमड़ा,अनाज, पशु, आदि प्रमुख हैं। कोई चीज जितनी बार बेची जाती थी उस पर उतनी बार कुछ कर देना होता था। हमारे पास कराधान की सही-सही दर को गणना करने के लिए पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। आमतौर पर जो उल्लेख मिलता है उससे लगता है कि ये कर काफी ज्यादा थे। पीटर मंडी (1632) के विवरण के अनुसार, पटना का गवर्नर कर वसूलने में बहुत निर्ममता बरतता था, और यहाँ तक कि दूध बेचने वाली औरतों से भी कर वसूल किया जाता था। एक अन्य समकालीन लेखक ने भी लिखा है कि फूल बेचने वाले से लेकर मिट्टी का बर्तन बेचने वाले तक, अच्छी कोटी का मलमल बनाने वालों से लेकर मोटा कपड़ा बनाने वालों तक को, हर तरह के व्यापारी को कर देना पड़ता था।

व्यापारियों के अलावा कारीगरों को भी अपने उत्पादन पर कर देना पड़ता था। सभी प्रकार के कपड़ों, रेशम और ऊनी वस्त्र पर *कटरापारचा* कर लगाया जाता था। नील, शोरा और नमक पर भी कर लगाया जाता था। कुछ मामलों में, जैसे कि अकबर के समय में पंजाब में नमक पर लगाया गया कर उसकी मूल लागत के दोगुना से भी ज्यादा था।

सीमा शुल्क और पारगमन शुल्क

जब कोई वस्तु एक जगह से दूसरी जगह ले जाई जाती थी तब उस पर कर लगाया जाता था। हमें सीमा शुल्क दरों की थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। बंदरगाहों से लाई जाने वाली प्रत्येक वस्तु पर कर लगाया जाता था। अबुल फज़ल के अनुसार अकबर के समय में इस प्रकार के शुल्क ढाई प्रतिशत से ज्यादा नहीं लगाए जाते थे। 17वीं शताब्दी के आरंभ के एक दस्तावेज में बताया गया है कि सूरत में वस्तुओं पर ढाई प्रतिशत, खाद्य सामग्री पर 3 प्रतिशत और धन (सोना और चांदी) पर 2 प्रतिशत कर लगाया जाता था। 17वीं शताब्दी के अंत में सीमा शुल्क 4 से 5 प्रतिशत के बीच था।

औरंगजेब ने अलग-अलग समुदायों पर अलग-अलग पारगमन कर लगाया था। यह दर मुसलमानों के लिए ढाई प्रतिशत, हिंदुओं के लिए 5 प्रतिशत और विदेशियों के लिए साढ़े तीन प्रतिशत थी। यह दर पूरे साम्राज्य में लागू होती थी।

52 रुपये से कम मूल्य की वस्तु कर से मुक्त होती थी। कुछ समय के लिए औरंगजेब ने मुसलमानों को सभी सीमा शुल्कों से मुक्त कर दिया परंतु जल्द ही उसने फिर उन पर ढाई प्रतिशत कर लगा दिया।

सम्राट के निर्देशों के बावजूद व्यापारियों से अक्सर निर्धारित सीमा शुल्क से ज्यादा राशि वसूल कर ली जाती थी। हमें सीमा शुल्क के बारे में विदेशियों की शिकायतों का पता चलता है। अंग्रेजों ने 1615 में, शिकायत की थी कि अहमदाबाद से सूरत तक वस्तुओं को लाने में तीन बार अलग-अलग शुल्क वसूला जाता था। समय-समय पर अंग्रेज और डच सीमा शुल्क से छूट प्राप्त करने के लिए सम्राट से *फरमान* प्राप्त किया करते थे फिर भी अक्सर सीमा शुल्क चौकियों पर शुल्क का भुगतान करना पड़ता था। मुगल सीमा क्षेत्र के अतिरिक्त स्वायत्त शासक भी अपने इलाके से गुजरने वाली वस्तुओं पर शुल्क लगाते थे। मोरलैंड कहता है कि व्यापार और वाणिज्य पर करों के बोझ की ठीक-ठीक गणना करना संभव नहीं है क्योंकि सभी अपनी मनमर्जी से कर लगाते थे और शुल्क उगाहते थे। एक राज्य में या क्षेत्र में कर देने के बावजूद व्यापारियों को दूसरे क्षेत्र में पुनः कर देना पड़ता था।

सीमा शुल्क के अलावा ***राहदारी*** कर या पारगमन शुल्क भी वसूल किया जाता था यह एक प्रकार का पथकर या चुंगी थी। विभिन्न क्षेत्रों से गुजरने वाली वस्तुओं पर यह चुंगी लगाई जाती थी। हालांकि प्रत्येक स्थान पर थोड़ी-थोड़ी राशि ही देनी पड़ती थी परंतु कुल मिलाकर यह राशि बड़ी हो जाती थी। यहाँ तक कि अपने क्षेत्र से गुजरने वाली वस्तुओं पर *ज़मींदार* भी चुंगी वसूला करते थे।

17वीं शताब्दी के एक समकालीन विवरण (खाफी खां) के अनुसार *राहदारी* को अवैध माना जाता था परंतु इसके नाम पर व्यापारियों और व्यवसायियों से बड़ी मात्रा में राशि वसूल कर ली जाती थी। यह कर नदी मार्गों पर भी लगाया जाता था।

हम आपको यह बता देना चाहते हैं कि ये कर समय-समय पर बदलते रहते थे। कभी-कभी कुछ वस्तुओं पर सीमा शुल्क हटा दिया जाता था। उदाहरण के लिए, जहांगीर ने काबुल और कंधार के साथ होने वाले व्यापार में कुछ वस्तुओं पर सीमा शुल्क हटा लिया था। गुजरात में पड़े अकाल के समय वहाँ कुछ वस्तुओं पर सीमा शुल्क से छूट दे दी गई थी। 1659 में गद्दी पर बैठने के बाद औरंगजेब ने खाद्यान्नों पर लगे कर और शुल्क हटा लिए।

समय-समय पर कई प्रकार की वस्तुओं पर कर और शुल्क हटा लिया जाता था। इस संदर्भ में कई राजकीय आदेश पारित किए जाते थे। सीमा शुल्क से छूट पाने के लिए सभी यूरोपीय कंपनियों – ब्रिटिश, डच और फ्रांसीसी – को सीमा शुल्क में छूट के लिए राजकीय आदेश प्राप्त थे। एक अवसर पर औरंगजेब ने सभी प्रकार का सड़क शुल्क (*राहदारी*) समाप्त कर दिया था।

सम्राटों के राजकीय आदेशों से प्रतीत होता है कि व्यापार के प्रति राज्य का दृष्टिकोण उदारवादी था पर व्यवहार में स्थिति इससे अलग थी।

प्रशासन का दृष्टिकोण

प्रांतीय गवर्नर, बाज़ार के अधीनस्थ अधिकारी और सीमा शुल्क अधिकारी ज्यादातर उदारवादी नीति लागू करने के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न किया करते थे। वे हमेशा व्यापारियों से कुछ न कुछ वसूल करने की ताक में रहते थे। प्रायः वसूल की गई राशि अधिकारी अपने पास ही रख लेते थे। अधिकारियों द्वारा स्वयं व्यापार करने से स्थिति और भी उलझ जाती थी। कुलीन वर्ग के सदस्य और उच्चस्थ पदाधिकारी अक्सर कुछ वस्तुओं पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश करते थे।

शाहजहां के पुत्र राजकुमार शुजा व्यापार में खूब रुचि लेते थे। एक बड़े कुलीन मीर जुमला ने बंगाल में कुछ वस्तुओं पर अपना एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। अंग्रेज़ों ने पहले इसका विरोध किया पर अंततः उन्होंने शोरा उसी के माध्यम से लेना स्वीकार कर लिया। एक अन्य महत्वपूर्ण कुलीन शाइस्ता खां ने अंग्रेज़ों को बाध्य किया कि वे अपना माल और चांदी उसी को बेचें और उन्हें शोरा की असीमित आपूर्ति का आश्वासन दिया। शाइस्ता खां की प्रतिदिन की अनुमानित आय 2,00,000 लाख रुपये थी। उसका पुत्र बुज़ुर्ग उमेद खां भी बृहद पैमाने पर विदेशों से व्यापार करता था।

इन उच्चस्थ कुलीनों के अलावा मातहत पदाधिकारी भी व्यापार करते थे। वैधानिक तौर पर पदाधिकारियों और कुलीनों को व्यापार में हिस्सा लेने की मनाई नहीं थी। समस्या यह थी कि इस प्रतियोगिता में सत्ता में रहने वाले लोग दमन और शोषण का सहारा लेने लगते थे।

इन उच्चस्थ पदाधिकारियों के दमन के खिलाफ विदेशी कंपनियों, व्यापारियों और व्यक्तियों की याचिकाएँ और प्रतिवेदन मिलते हैं। रियायत देने के संदर्भ में कई राजकीय आदेशों की भी जानकारी मिलती है। संचार के विकसित साधनों का अभाव और लंबी दूरी के कारण कई बार रियायतें लागू करने में विलंब हो जाता था और कभी-कभी तो ये आदेश लागू ही नहीं हो पाते थे। यह संघर्ष पूरे मुगल काल के दौरान चलता रहा। इन बाधाओं के बावजूद व्यापार बढ़ता रहा और कई देशों के व्यापारी यहाँ आकृष्ट होते रहे।

बोध प्रश्न-3

1) आगरा-अहमदाबाद और आगरा-ढाका व्यापारिक मार्ग पर पड़ने वाले मुख्य नगरों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

.....

2) व्यापार तथा वाणिज्य से संबंधित मुगल नीति क्यों पूरी तरह से कार्यान्वित नहीं की जा सकी?

.....

.....

.....

.....

12.4 मुगलों के अधीन व्यापार के कार्मिक और वाणिज्यिक गतिविधियाँ

पूरी वाणिज्य प्रक्रिया में, व्यापारियों के खास विशेषीकृत समुदाय, दलाल और *सर्राफ* विभिन्न स्तरों पर अपनी भूमिका निभाते थे। बड़े पैमाने पर व्यापार होने के कारण कुछ मौजूद प्रथाएँ और संस्थाएँ मजबूत हुईं और कुछ नए रूप सामने आए। बैंकिंग व्यवस्था, *हुंडी* और ऋण लेना तथा देना कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं। व्यापारिक भागीदारी और बीमा का भी प्रचलन था। व्यापारिक

गतिविधियों के बढ़ने से इन व्यवसायों की ओर काफी लोग आकृष्ट हुए। हालांकि उपर्युक्त व्यापारिक समुदायों का विभाजन बिल्कुल अलंध्य नहीं था। एक ही साथ एक व्यक्ति दो या अधिक भूमिका निभा सकता था। यहां हम इस काल के व्यापार और वाणिज्य में इन समुदायों की अलग-अलग भूमिकाओं के आधार पर उनका अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

12.4.1 व्यापारी

सैद्धांतिक तौर पर वैश्यों से व्यापार करने की उम्मीद की जाती थी पर व्यवहार में अलग-अलग पृष्ठभूमि के लोग व्यापार में संलग्न हो सकते थे तथा पाए जाते थे। अपने अध्ययन के इस काल में हम पाते हैं कि किसी खास प्रदेश में कुछ खास समुदायों और जातियों का वर्चस्व होता था।

बंजारे

हमारे स्रोतों में व्यापारी समुदाय के रूप में *बंजारों* के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ये क्षेत्र विशेष में गांवों के बीच और गांवों और शहर के बीच व्यापार करते थे, कभी-कभी ये अंतर-क्षेत्रीय स्तर पर भी व्यापार करते थे। वे ग्रामीण-शहरी व्यापार की महत्वपूर्ण कड़ी थे। *बंजारे* अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ अनाज, दाल, चीनी, नमक, आदि वस्तुओं तक ही सीमित रखते थे। उनके पास बड़ी संख्या में पशु (खासकर सामान ढ़ोने के लिए बैल) होते थे और वे लोग एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर सामान बेचते और खरीदते थे। *तुज़ुक-ए जहांगीरी* में जहांगीर कहता है कि, 'इस देश में *बंजारा* एक खास वर्ग है जिनके पास हजार के आसपास बैल होते हैं। वे गांव से शहर अनाज लाते हैं और सेना के साथ भी चलते हैं'। आमतौर पर *बंजारे* अपने परिवार और घर के सामान के साथ घूमते थे। इधर-उधर एक साथ कारवां में चलते इनके इस समुदाय को *टाण्डा* कहते थे। प्रत्येक *टाण्डा* का एक प्रधान होता था जिसे *नायक* कहते थे। कभी-कभी एक *टाण्डा* में 600-700 लोग (महिलाओं और बच्चों को मिलाकर) होते थे और प्रत्येक के पास अपने बैल होते थे।

बंजारे हिंदू भी थे और मुसलमान भी। कुछ विद्वान उन्हें उनके व्यापार की जाने वाली वस्तुओं, अनाज, दाल, चीनी, नमक और लकड़ी के आधार पर विभाजित करते हैं।

बंजारे उत्तर भारत के कई भागों में व्यापार करते थे पर इसी प्रकार के और भी व्यापारी थे, जिन्हें दूसरे नामों से जाना जाता था। सिंध में इसी प्रकार का व्यापारी वर्ग कार्यरत था, जिसे नाहमर्दी कहते थे। हिमालय और मैदानी इलाकों के बीच भोटिया नामक घुमंतु व्यापारी कार्यरत थे।

विभिन्न प्रदेशों में व्यापारी

एक महत्वपूर्ण वैश्य उपजाति, बनिया उत्तर भारत और दक्खन का महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग था। वे हिंदू और जैन (मुख्य रूप से गुजरात और राजस्थान में) धर्म मानने वाले थे। पंजाब में खत्री और गोलकुंडा में कोमाती भी इन्हीं के समरुप थे।

बनिया शब्द, संस्कृत शब्द *वणिक* अर्थात व्यापारी से गृहीत है। बनिया समुदाय अपने नाम के साथ उपनाम भी लगाया करता था जिससे उनके मूल स्थान का पता चलता था। अग्रवालों का मूल स्थान अमरोहा (अभी हरियाणा में) और ओसवालों का मारवाड़ में ओसी था। मारवाड़ के व्यापारियों की संख्या सबसे अधिक थी और इन्हें मारवाड़ी के नाम से जाना जाता था। वे देश के सभी हिस्सों में फैले हुए थे और हमारे अध्ययन काल के दौरान सर्वप्रमुख व्यापारी समुदाय था। इन व्यापारियों के बीच घनिष्ठ जातिगत बंधन था। इनकी अपनी परिषद् (*महाजन*) भी होती थी।

समकालीन यूरोपीय यात्रियों (लिनशोटन 1583-1589; टैवर्नियर 1656-1667) ने बनियों की व्यापारिक निपुणता की दाद दी थी और उनकी लेखा-बही संबंधी योग्यता की सराहना की थी। बंजारों के विपरीत बनिया विभिन्न प्रकार की गतिविधियों में कार्यरत थे। ग्राम स्तर पर वे अनाज तथा अन्य कृषि उत्पादों का व्यापार करते थे। वे महाजन के रूप में भी कार्य करते थे, कृषकों तथा राज्य अधिकारियों और कुलीनों सहित अन्य व्यक्तियों को ऋण प्रदान करते थे। शहरों में वे अनाज, कपड़े, सोने, चांदी, आभूषणों, मसालों तथा अन्य विविधतापूर्ण उत्पादों में तिजारत करते थे। कुछ के पास लाखों रुपयों की सम्पत्ति थी। वे समुद्री जहाज़ो के स्वामी भी थे। समस्त समुदाय अपनी सादगी तथा मितव्ययिता के लिए जाना जाता था।

पंजाब में खत्री प्रमुख व्यापारी समुदाय था। सिख धर्म के संस्थापक गुरुनानक भी खत्री थे। इनमें से कईयों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस समुदाय में हिंदू भी थे, मुसलमान भी और सिख भी।

13-17वीं शताब्दी में दिल्ली, पंजाब और सिंध में कार्यरत मुल्तानी प्रमुख व्यापारी समुदाय था। हमारे अध्ययन काल में भी उनका उल्लेख मिलता है।

बोहरा गुजरात के महत्वपूर्ण व्यापारी थे। वे ज्यादातर मुसलमान थे। वे शहरी समुदाय थे और मुख्य तौर पर गुजरात और अन्य पश्चिमी इलाकों में बसे हुए थे। गुजरात के अलावा उज्जैन और बुरहानपुर में भी उनकी कुछ बस्तियां थीं। मुल्लाह मुहम्मद अली और अहमद अली जैसे बोहरा व्यापारियों के पास लाखों रुपयों की संपत्ति थी। पश्चिमी तट पर व्यापार में संलग्न मुसलमान व्यापारी समुदायों में खोजाह और गुजरात में कच्छ के मेमन भी प्रमुख थे।

दक्षिण भारत

इस उपमहाद्वीप के दक्षिण भाग में कई व्यापारिक समुदायों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। चेट्टी ऐसा ही एक समुदाय था। यह शब्द संस्कृत *श्रेष्ठी* (*सेठ*) से गृहीत है। संभवतः चेट्टी काफी धनाढ्य व्यापारी थे। कोरोमंडल तट से लेकर उड़ीसा तक के व्यापारियों को क्लिंग (Kling) के नाम से जाना जाता था। कोमाती भी एक व्यापारी वर्ग था। वे मुख्यतः कपड़े के दलाल थे और देश के अंदरुनी इलाकों से बंदरगाहों तक माल लाने का काम करते थे। वे मुख्यतः तेलुगू भाषी थे।

चेट्टी की तरह चूलिया भी एक व्यापारी समुदाय था जो चार समुदायों में विभक्त था। इनमें मराक्कयार सबसे धनाढ्य व्यापारी थे और ये तटीय और दक्षिण-पूर्वी एशियाई व्यापार में संलग्न थे। यह काफी गतिमान समुदाय था और इनमें से कई श्रीलंका, मालदीव, मलक्का, जोहोर, जावा तट, स्याम और बर्मा जाकर बस गए थे। भारत में दक्षिण में कोरोमंडल, मदुरा, कुड्डालोर, पोर्टो नोवा, नागोल, नागपट्टनम, कोयलपट्टनम, आदि स्थानों में सक्रिय थे। वे मुख्य रूप से वस्त्र, सुपारी, मसाले, अनाज, सूखी मछली, नमक, मोती और बहुमूल्य रत्नों का व्यापार करते थे।

कोरोमंडल से मालाबार और श्रीलंका तक च्रुतियन पारव नामक समुदाय व्यापार में सक्रिय था। तटीय व्यापार और दलाली में उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी।

मुसलमानों में, गोलकुंडा के मुसलमान समुद्रपारीय जहाजरानी में संलग्न थे। मद्रास के दक्षिण और बंगाल प्रदेश में बंगाल की खाड़ी में वे प्रमुख व्यापारी थे। भारतीय अरब मूल के मोपिल्ला मुसलमान भी इस क्षेत्र में कार्यरत महत्वपूर्ण व्यापारी थे।

मद्रास प्रदेश में गुजराती व्यापारी भी कार्यरत थे।

विदेशी व्यापारी

इस काल के लगभग सभी वाणिज्यिक केंद्रों में विदेशी व्यापारियों की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है। अन्य विदेशी व्यापारियों में आरमीनियन सर्वप्रमुख हैं। वे कपड़े से लेकर तंबाकू तक अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे। वे बंगाल, बिहार और गुजरात में अधिक सक्रिय थे। खुरासानी, अरब और इराकी भी अक्सर भारतीय बाज़ारों में काफी संख्या में आते रहते थे।

12.4.2 महाजन और *सर्राफ*

उत्तर भारत के बड़े भाग में परंपरागत व्यापारीगण व्यापार के साथ-साथ ब्याज पर रुपया भी देते थे। गांव में परंपरागत बनिया किसानों को राजस्व का भुगतान करने के लिए भी उधार दिया करता था। शहरों तथा बड़े स्थानों पर भी व्यापारी महाजन के रूप में कार्य करते थे।

सर्राफ भी व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। उनके तीन कार्य थेः 1) मुद्रा विनिमयदाता के रूप में; 2) बैंकर के रूप में; और 3) सोना, चांदी और गहने के व्यापारी के रूप में। यहाँ हम पहले दो कार्यों पर चर्चा करेंगे, तीसरा कार्य किसी भी अन्य वस्तु के व्यापार की भांति ही था।

सर्राफ सिक्के की धातुगत शुद्धता और वजन के पारखी और विशेषज्ञ माने जाते थे। वे धातु की मुद्रा की विनिमय दर भी निर्धारित करते थे। टैवर्नियर के अनुसार 'भारत के किसी गांव में अगर कोई *सर्राफ* (*cherab*) न हो तो निश्चय ही वह काफी छोटा गांव होगा। वह बैंकर के रूप में लोगों के पैसे का लेन-देन करता था और *हुंडियां* भी जारी करता था।'

सर्राफ मुगल मुद्रा ढलाई व्यवस्था का भी एक अंग था। प्रत्येक टकसाल में एक *सर्राफ* होता था जो धातु की शुद्धता और ढ़लने के बाद सिक्के की शुद्धता की जांच करता था। बैंकर के रूप में वे लोगों का धन सुरक्षित रखते थे और ब्याज पर ऋण देते थे। वे *हुंडी* जारी करते थे और दूसरों द्वारा जारी *हुंडियों* के बदले अपना कमीशन काटकर भुगतान भी करते थे।

12.4.3 दलाल

भारत में तुर्की विजय के बाद के काल में *दलाल* एक विशेषीकृत वाणिज्यिक वर्ग के रूप में कार्यरत थे। वे विभिन्न वाणिज्यिक गतिविधियाँ और लेन-देन के मध्यस्थ के रूप में कार्य करते थे। अंतर-प्रांतीय और विदेशी व्यापार के बढ़ने से उनकी भूमिका अपरिहार्य हो गई। दूर से आए हुए व्यापारी और विदेशी व्यापारी उन पर काफी निर्भर रहते थे। ए. जान. क़ैसर के अनुसार विदेशी व्यापारी यहां के उत्पादन के केंद्र, विपणन की पद्धति और भाषा नहीं जानते थे। उन्हें इस सबके लिए स्थानीय दलालों पर निर्भर करना पड़ता था। भारत में दलालों की जरूरत कुछ कारणों से महत्वपूर्ण हो गई थी। वे इस प्रकार हैं:

1) एक ही वस्तु के उत्पादन के केंद्र पूरे भारत में फैले हुए थे,
2) प्रत्येक केंद्र का उत्पादन सीमित था (कुछ केंद्र खास वस्तुओं का ही उत्पादन करते थे), और
3) एक ही बाज़ार में एक ही वस्तु के काफी खरीदार होते थे।

दलालों की सहायता से लेन-देन किए जाने के कई प्रमाण मिलते हैं। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेजों से पता चलता है कि उन्होंने अपने व्यवसायिक प्रतिष्ठानों में भी दलालों को नियुक्त किया था। फ्रायर (17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) के अनुसार 'दलाल के बिना देशी या विदेशी कोई भी व्यापारी व्यापार नहीं कर सकता था'। ओविंग्टन (1690) ने भी टिप्पणी की है कि 'कंपनी की वस्तुओं को बेचने और खरीदने के लिए बनिया जाति के दलालों को नियुक्त किया जाता था, जो वस्तुओं के मूल्य और गुणों के पारखी होते थे।'

मैनरीक (1640) बताता है कि पटना में लगभग 600 दलाल और मध्यस्थ थे। सूरत, अहमदाबाद, आगरा और अन्य तटीय शहरों और बड़े वाणिज्यिक केंद्रों में उनकी संख्या अवश्य ही अधिक रही होगी।

विदेशी बंदरगाहों पर भी भारतीय दलाल मौजूद होते थे। वे गोम्बरुन (बंदर अब्बास) बसरा, बंदर रिग, आदि स्थानों में भी कार्यरत थे। कभी-कभी पूरा परिवार भागीदारी में दलाली का काम करता था। हमें भीमजी पारक, एक प्रमुख दलाल, के बारे में जानकारी मिलती है कि वह अपने भाइयों के साथ मिलकर दलाली का काम करता था। इस व्यापार के लाभ में उसके पास 8, कल्याणदास के पास 5, केस्सो और विट्ठलदास के पास चार-चार हिस्से थे।

ए. जान क़ैसर दलालों को चार कोटियों में विभक्त करते हैं:

1) कंपनी या व्यापारियों द्वारा नियुक्त दलाल केवल उनके लिए कार्य करते थे,
2) कई ग्राहकों के लिए स्वतंत्र रूप से काम करने वाले दलाल,
3) वे जो तदर्थ आधार पर दलाल ठेकेदार के रूप में काम करते थे, और
4) वाणिज्यिक केंद्रों पर खरीद और बिक्री को पंजीकृत करने के लिए राज्य द्वारा नियुक्त दलाल।

वस्तुओं की विशेषता के आधार पर स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे दलालों को कई समुदायों में विभक्त किया जा सकता है। कई दलाल किसी एक वस्तु की ही दलाली किया करते थे और इसके विशेषज्ञ माने जाते थे जैसे रेशम, शोरा, सूती कपड़ा, नील, आदि। कुछ दलाल एक से अधिक वस्तुओं की दलाली करते थे। कुछ दलाल प्रतिष्ठित दलालों के उप-दलाल या मातहत दलाल के रूप में कार्य करते थे।

दलालों का शुल्क या कमीशन नियत नहीं होता था। यह वस्तु विशेष, सौदा तय करने में दलाल के परिश्रम या वस्तु प्राप्त करने में लगे श्रम आदि पर निर्भर करता था। आम लेन-देन में दलाली

कुल मूल्य का दो प्रतिशत होती थी। प्रत्येक पक्ष (बेचने वाला और खरीदार) से एक प्रतिशत की दर से शुल्क वसूला जाता था।

नियमित रूप से नियुक्त दलालों को नियत वेतन और लेन-देन में कुछ कमीशन भी मिलता था। हमें उनकी कुल आय का पता नहीं है। हालांकि इंग्लिश कंपनी के कुछ दस्तावेजों को देखने से पता चलता है कि उनके दलालों को 10 रुपये से 38 रुपये प्रतिमाह की दर से वेतन दिया जाता था।

अपने ग्राहकों से माल लेने और बेचने के अलावा दलाल उत्पादन की प्रक्रिया और संगठन में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। व्यापारियों द्वारा कारीगरों को दी जाने वाली अधिकांश अग्रिम राशि (*दादनी*) इन दलालों के माध्यम से ही दी जाती थी।

12.4.4 वाणिज्यिक गतिविधियाँ

इस उप-भाग में हम इस काल के व्यापार और वाणिज्य में से जुड़ी विभिन्न गतिविधियों पर विचार करेंगे।

हुंडी

इस काल में *हुंडी* मुद्रा विनिमय का प्रमुख साधन हो गई थी। *हुंडी* कागज पर लिखा एक वचन पत्र होता था जिसके द्वारा किसी निर्धारित समय और स्थान पर लिखी गई राशि देने की व्यवस्था की जाती थी। इस प्रथा का आरंभ वाणिज्यिक कार्यों के लिए मुद्रा के रूप में अधिक धन को लेकर जाने वालों के खतरे को ध्यान में रखकर हुआ। व्यापारी अपनी राशि किसी खास स्थान पर *सर्राफ* के पास जमा कराकर *हुंडी* ले लिया करते थे। व्यापारी अपने गंतव्य स्थान पर यह *हुंडी सर्राफ* के प्रतिनिधि को देकर अपनी राशि वापस ले सकता था। इससे धन का स्थानांतरण आसान और सुरक्षित हो गया। शनैः-शनैः *हुंडी* स्वयं लेन-देन का आधार बन गई। किसी भी लेन-देन में इसे प्रस्तुत किया जा सकता था। इसे अनुमोदित करने के बाद बाज़ार में बेचा या खरीदा जा सकता था।

इरफान हबीब के अनुसार,'*हुंडी* के लेन-देन का इतना अधिक प्रचलन हो गया कि अक्सर व्यापारिक लेन-देन में नगद भुगतान के स्थान पर *हुंडी* ली और दी जाने लगी।' इस प्रक्रिया में यह भुगतान का माध्यम बन गई।

हुंडी का प्रयोग इतना व्यापक था कि राजकोष और राज्य भी इसका उपयोग करते थे। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। 1599 में राजकोष ने दख्खन में सेना को 3,00,000 रुपये *हुंडी* के द्वारा भेजे। गोलकुंडा के शासकों (10,00,000 रुपये) और घक्कर के कबीलाई सरदारों (50,000 रुपये) ने मुगल बादशाह को अपना नज़राना *हुंडी* के रूप में भेजा।

हमें इस बात के भी सबूत मिले हैं कि प्रांतीय पदाधिकारियों को *हुंडियों* के जरिए राजस्व स्थानांतरित करने का निर्देश दिया जाता था। यहाँ तक कि वरिष्ठ कुलीन भी अपने व्यक्तिगत धन के स्थानांतरण के लिए *सर्राफों* की सहायता लेते थे। बिहार के गवर्नर मुकर्रम खां ने पटना से आगरा स्थानांतरित होते समय पटना के *सर्राफ* को 3,00,000 रुपये आगरा पहुंचाने के लिए दिए थे।

सर्राफ के अतिरिक्त कई बड़े व्यापारी भी *हुंडी* जारी करते थे। प्रमुख वाणिज्यिक स्थानों पर इन व्यापारियों और *सर्राफों* के प्रतिनिधि रहा करते थे। कभी-कभी एक परिवार के सदस्य (पिता, पुत्र, भाई, भतीजा) एक-दूसरे के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे। बड़े प्रतिष्ठानों के प्रतिनिधि विदेशों में भी होते थे।

सर्राफ प्रत्येक *हुंडी* के लिए शुल्क लिया करता था। विनिमय के कमीशन की दर सूद की दर और विनिमय अवधि पर निर्भर करती थी। *हुंडी* जारी करने से *हुंडी* वापस करके राशि वापस लेने तक के दिन की अवधि गिनी जाती थी। *हुंडी* जारी करने और इसके परिपक्व होने के समय मुद्रा की उपलब्धता के आधार पर भी दर ऊपर-नीचे होती रहती थी। अगर मुद्रा की उपलब्धता अच्छी होती थी तो दर गिर जाती थी। अभाव की स्थिति में दर ऊंची हो जाती थी। इरफान हबीब के अनुसार, 'एक स्थान पर ज्यादा भुगतान करने पर *सर्राफ* के पास नगद की कमी हो जाती थी और दूसरे पर नगद की उपलब्धता ज्यादा हो जाती थी। इस स्थिति में जहाँ

नगद की कमी होती थी वहाँ नगद लेने को हतोत्साहित किया जाता था और जहाँ नगद की उपलब्धता ज्यादा होती थी वहां नगद देने को प्रोत्साहित किया जाता था। इसके कारण विनिमय दर में भी परिवर्तन होता रहता था।'

एक सामान्य जानकारी के लिए यहां कुछ विनिमय दरों का उल्लेख किया जा रहा है। आमतौर पर पटना से आगरा की हुंडी के लिए $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत और पटना से सूरत के लिए 7-8 प्रतिशत शुल्क लिया जाता था। 1622 में अहमदाबाद से बुरहानपुर के लिए *हुंडी* शुल्क $7\frac{1}{4}$ प्रतिशत था।

12.4.5 बैंकिग, सूदखोरी, ब्याज की दर और भागीदारी

बैंकिंग

सर्राफ हुंडी जारी करने के साथ-साथ अपने पास दूसरों की राशि भी जमा करते थे। जमाकर्ता की मांग पर यह राशि उसे वापिस दे दी जाती थी। जमाकर्ता को जमा राशि पर ब्याज मिलता था। जमाकर्ता को दी जाने वाली ब्याज की दर बदलती रहती थी। 1645 में आगरा में और 1630 में सूरत में ब्याज की दर साढ़े नौ प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। बैंकर जमा राशि का उपयोग अधिक ब्याज पर ऋण देकर किया करता था। ऐसे कई हवाले मिले हैं जहाँ राज्य अधिकारी राजकोष से इन बैंकरों को राशि दिया करते थे और उसका ब्याज अपने पास रख लेते थे। बंगाल के जगत सेठ के बारे में लिखते हुए तपन रेचौधरी कहते हैं कि,'उसकी भौतिक समृद्धि का मूल कारण यह था कि वे बंगाल राजकोष के धन का उपयोग करने की स्थिति में थे और इस धन को ब्याज पर दे सकते थे।'

सुजान राय (1694) के अनुसार लेन-देन में *सर्राफ* ईमानदार होते थे। यहाँ तक कि अनजान आदमी भी उनके पास हजारों रुपये जमा करके निश्चिंत हो सकता था और आवश्यकता के समय वापस ले सकता था।

सूदखोरी और ब्याज की दर

व्यक्तिगत जरूरतों और वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पैसा उधार लेने का आम प्रचलन था। अधिकांश व्यापार ब्याज पर लिए पैसे से ही होता था। आमतौर पर *सर्राफ* और व्यापारी दोनों ही पैसा उधार देने का काम करते थे। कभी-कभी पैसा उधार देने का काम एक अलग कोटि का वाणिज्य वर्ग करता था जिन्हें *साहा* कहा जाता था। ऋण विभिन्न उद्देश्यों के लिए लिया जाता था। किसान राजस्व के भुगतान के लिए ऋण लिया करते थे और कटाई के समय ऋण चुकाया करते थे। कुलीन और *ज़मींदार* अपने रोजमर्रा के खर्च के लिए ऋण लिया करते थे और राजस्व वसूली के समय भुगतान किया करते थे। व्यापारिक उद्देश्यों के लिए ऋण लेना भी आम बात थी।

कम ऋणों पर सूद की दर के निर्धारण के बारे में जानना जरा मुश्किल है। यह व्यक्ति की जरूरत, बाज़ार में उसकी साख और सौदेबाजी करने की उसकी शक्ति पर निर्भर करता था। तपन रेचौधरी के अनुसार 18वीं शताब्दी में बंगाल के किसान 150 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से भी ऋण लिया करते थे। वाणिज्यिक ऋण पर अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग ब्याज दर होती थी। हमारे स्रोतों में प्रति महीने की दर से ब्याज का उल्लेख मिलता है। इरफान हबीब के अनुसार प्रति महीने की दर से ब्याज के उल्लेख का मतलब था कि ऋण अल्प-अवधि के लिए लिया और दिया जाता था।

1620-1621 में पटना में सूद की दर नौ प्रतिशत प्रतिवर्ष होने का उल्लेख मिलता है। 1680 के आसपास यह 15 प्रतिशत से भी अधिक हो गया मालूम होती है। 1679 में कासिमबाज़ार (बंगाल) में प्रचलित सूद की दर प्रतिवर्ष 15 प्रतिशत बताई गई है जबकि इसी समय यह दर मद्रास में मात्र 8 प्रतिशत और सूरत में 9 प्रतिशत थी। ब्रिटिश कंपनी के प्रतिष्ठान ब्याज की दर पर नजर लगाए रखते थे और जिस प्रांत में ब्याज की दर कम होती थी उस प्रांत से ऋण लेकर यह राशि दूसरे प्रांतों में भेज दिया करते थे। 17वीं शताब्दी के दौरान आगरा और सूरत में ब्याज की दर प्रतिवर्ष 6 से 12 प्रतिशत के मध्य थी। कोरोमंडल तट पर यह दर कहीं अधिक 18 प्रतिशत से 36 प्रतिशत तक थी।

विभिन्न स्थानों पर ब्याज की दर में भिन्नता साबित करती है कि उस समय तक वित्तीय बाज़ारों का एकीकरण नहीं हो सका था।

भागीदारी (partnership) में व्यापारीगण अपने संसाधनों को एक साथ मिलाकर व्यापार करते थे। बनारसीदास ने 1611-1616 में जवाहरात के व्यापार में अपने भागीदार का उल्लेख किया है। यहां तक कि दलाल भी भागीदारी में काम करते थे।

12.4.6 बीमा

उस समय सीमित रूप में बीमा नामक वाणिज्यिक प्रथा भी भारत में प्रचलित थी। कई मामलों में *सर्राफ* माल को सुरक्षित रूप से पहुंचाने की जिम्मेदारी ले लेते थे। अंग्रेजी कंपनी के दस्तावेज़ों में भी अंतर्देशीय और विदेशी व्यापार में वस्तुओं के बीमे का उल्लेख मिलता है। समुद्र में जहाज और उस पर लदे सामान दोनों का बीमा होता था। फैक्ट्री रिकॉर्ड्स के दस्तावेज़ों में बीमा दर का उल्लेख भी मिलता है। 18वीं शताब्दी तक यह प्रथा अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी और सब जगह प्रचलित थी। विभिन्न गंतव्य स्थानों के लिए और विभिन्न वस्तुओं के लिए बीमा दरों का भी उल्लेख किया गया है। समुद्र के रास्ते जाने वाले माल की बीमा दर जमीन के रास्ते जाने वाले माल की दर से ज्यादा थी।

12.5 व्यापारी, व्यापारिक प्रतिष्ठान और राज्य

हम पढ़ चुके हैं कि राज्य द्वारा विभिन्न व्यापारिक गतिविधियों पर कर लगाया जाता था। माल इधर-उधर ले जाने के लिए भी व्यापारियों को कर और चुंगी देनी पड़ती थी। राज्य की कुल आय में इन स्रोतों से होने वाली आय भू-राजस्व की तुलना में काफी कम थी।

चूंकि शहर वाणिज्यिक गतिविधियों के केंद्र होते थे, अतः प्रशासनिक अधिकारी इस बात का ख्याल रखते थे कि व्यापारिक गतिविधियों में कोई अड़चन न आए। कानून और व्यवस्था तथा शांति और सुरक्षा से बेहतर व्यापारिक माहौल बनता था। यह जिम्मेदारी *कोतवाल* और शहर में मौजूद उसके कर्मचारियों की थी।

रोजमर्रा के कामकाज, व्यापार से संबंधित नियम और कायदे व्यापारिक समुदाय स्वयं बनाया करता था। व्यापारियों की अपनी श्रेणियां और संगठन होते थे जो नियम बनाते थे। हमारे स्रोतों में इस प्रकार के संगठनों का उल्लेख मिलता है। गुजरात में इन्हें *महाजन* कहा जाता था। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हम अहमदाबाद में 53 *महाजनों* का उल्लेख पाते हैं। एक खास इलाके और खास वस्तु के व्यापार करने वाले व्यापारी अपने को *महाजन* में संगठित करते थे। इसमें कोई जातिगत बंधन नहीं होता था। कभी-कभी बड़े व्यापारियों के लिए भी *महाजन* शब्द का प्रयोग संभवतः इसलिए होता था क्योंकि वे अपने संगठन के प्रधान हुआ करते थे। व्यवसायिक वर्गों के कई जाति आधारित संगठन भी मौजूद थे।

शहर के सबसे प्रभुत्वशाली और धनाढ्य व्यापारी को *नगर सेठ* कहा जाता था। कभी-कभी यह पद अनुवांशिक भी माना जाता था। *नगर सेठ* राज्य और व्यापारिक समुदाय के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करता था।

व्यापारियों के बीच के मतभेदों और झगड़ों को सुलझाने में *महाजन* महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। आमतौर पर उसके निर्णय का सम्मान किया जाता था। मुगल प्रशासन ने भी इन *महाजनों* को मान्यता प्रदान की और मतभेद तथा संघर्ष की स्थिति में उनकी सहायता ली। अक्सर प्रशासनिक नीतियों के लिए भी उनकी मदद मांगी जाती थी। व्यापारिक संगठन मजबूत हुआ करते थे और शहर और बंदरगाहों के अधिकारियों के अत्याचारों या दुर्व्यवहार का विरोध किया करते थे। प्रशासनिक कार्यवाहियों के खिलाफ व्यापारिक संगठनों द्वारा हड़ताल (व्यापारिक प्रतिष्ठानों और दुकानों को बंद करना) किए जाने का भी कई जगह उल्लेख मिलता है। राजस्व में बहुत नुकसान के कारण प्रशासकों को इस संयुक्त विरोध के आगे अक्सर झुकना पड़ता था। एक ऐसा ही गंभीर संघर्ष 1669 में सूरत में हुआ। यहां नए गवर्नर के अत्याचार के विरोध में व्यापारियों ने अपने परिवार समेत (लगभग 8000 लोग) सूरत छोड़ दिया। वे भड़ौंच में बस गए और सम्राट औरंगजेब के पास याचिका भेजी। पूरे शहर की व्यापारिक गतिविधि ठप्प पड़ गई। सम्राट ने शीघ्रता से हस्तक्षेप किया और समस्या को सुलझाया।

1639 में शाहजहां ने सूरत के एक बड़े व्यापारी वीरजी बोहरा को सूरत के गवर्नर के विरुद्ध व्यापारियों की शिकायतें सुनने के लिए बुलाया। उत्तराधिकार के लिए हो रहे युद्ध के समय शाहजहां के बेटे मुराद ने अहमदाबाद के *नगर सेठ* शांतिदास के माध्यम से 5,50,000 रुपये उगाहे थे। मुराद की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने इसके भुगतान की जिम्मेदारी ली।

व्यापारी दरबार की राजनीति से दूर रहते थे, लेकिन कुलीन वर्ग व्यापार में हिस्सा लेता था। कई बड़े कुलीन व्यापार में मुनाफा कमाने के लिए अपने पद का सहारा लेते थे। शाइस्ता खां ने कई वस्तुओं, खासकर शोरा, पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश की। मीर जुमला, एक अन्य कुलीन, एक हीरा व्यापारी था। निचले स्तर के अधिकारी भी स्थानीय स्तर पर व्यापारिक गतिविधियों में शामिल थे और ज़ोर-ज़बर्दस्ती का रास्ता अपनाते थे।

बोध प्रश्न-4

1) मुगलों के अधीन आंतरिक व्यापार में *बंजारों* की भूमिका का विवरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) भारत के विभिन्न भागों में कार्यरत चार व्यापारिक समूहों का नाम लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3) *सर्राफ* द्वारा निभाई गई विभिन्न भूमिकाएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

4) *सर्राफ* कौन थे? विभिन्न *सर्राफों* की श्रेणियों की सूची लिखिए।

.....

.....

.....

.....

5) निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिएः

(क) *हुंडी* .....

.....

(ख) सूदखोरी .....

.....

(ग) बीमा .....

.....

(घ) व्यापारियों का व्यवसायिक संगठन .....

.....

12.6 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि तुर्कों के आने के बाद उद्योग और व्यापार बढ़ा। आपने यह भी पढ़ा कि शहरों में किस प्रकार शिल्प उत्पादन संगठित किया जाता था। आपने 13वीं और 14वीं शताब्दी के प्रमुख स्थल मार्गों की भी जानकारी प्राप्त की। आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुओं तथा परिवहन के प्रमुख साधनों के बारे में भी पढ़ा। साथ ही हमने व्यापार से संबंधित प्रमुख वर्गों – *कारवानी मुल्तानी, दलाल* और *सर्राफ* के बारे में भी अध्ययन किया। बढ़ी हुई व्यापारिक गतिविधियों के बावजूद भारतीय व्यापारियों की भागीदारी नगण्य थी; विशेषकर विदेशी व्यापार पर पूर्णतः अरब व्यापारियों का प्रभुत्व था। हमारे अध्ययन काल के अंतिम वर्षों में आशा अंतरीप (Cape of Good Hope) की खोज के परिणामस्वरूप नए समुद्री मार्ग की खोज से पुर्तगालियों के भारत आगमन से एक नया आयाम जुड़ा। आने वाले वर्षों में विश्व के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों में भारी परिवर्तन आए। इस विषय पर हम अगली इकाई में चर्चा करेंगे।

यहाँ हमने विवेच्य काल के देशी और विदेशी व्यापारिक गतिविधियों की चर्चा भी की है। स्थानीय और प्रांतीय स्तर पर अनाज, मोटे कपड़े, नमक, रोजमर्रा के सामानों आदि का व्यापार होता था। इन वस्तुओं की खरीद-बिक्री समय-समय पर लगने वाली *हाटों* या *पेंठों* के जरिए होती थी। छोटे शहरों के बाज़ार की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस मामले में हम पाते हैं कि वस्तुएं गांव से शहर लाई जाती थीं। भारत के विभिन्न प्रांतों के बीच व्यापारिक गतिविधियां काफी विकसित थीं। स्थल मार्ग और नदी के रास्ते वस्तुएं एक जगह से दूसरी जगह ले जाई जाती थीं। विदेश व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में था। एशिया और यूरोप के विभिन्न हिस्सों में भारतीय माल ले जाया जाता था। मुख्य रूप से कपड़ों, नील, शोरा, चीनी, आदि का निर्यात किया जाता था।

अंग्रेजों के आने के बाद विदेश व्यापार, खासकर नील और शोरा, में काफी वृद्धि हुई (ज्यादा जानकारी के लिए **इकाई 13** देखें)। भारत में आयात काफी सीमित था। चांदी, ऊनी कपड़ा और विलासिता की कई वस्तुओं का आयात किया जाता था। मुगल प्रशासन व्यापार की सभी वस्तुओं पर कर और शुल्क लगाया करता था। मुगल कुलीन वर्ग के सदस्यों और उच्चस्थ पदों पर आसीन पदाधिकारियों के व्यापार में संलग्न होने से बहुत बार व्यापारियों और यूरोपीय कंपनियों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

इस इकाई में हमने व्यापार में संलग्न कई विशेषीकृत समुदायों की गतिविधियों का अध्ययन भी किया। प्रांतीय और अंतर-प्रांतीय स्तर पर कई वस्तुओं के व्यापार में *बंजारों* की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। वह अपने पशुओं के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान घूम-घूम कर व्यापार करते थे और मुख्य रूप से अनाज, नमक, चीनी आदि की खरीद-बिक्री करते थे। देश के विभिन्न हिस्सों में कई प्रकार के व्यापारिक समुदाय और जातियां मौजूद थीं। बनिया, बोहरा, खत्री, चेट्टी, कोमाती, आदि प्रमुख व्यापारी समुदाय थे। विदेशी व्यापारियों में अंग्रेज, डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, आरमेनियन, खुरासानी और इराकी प्रमुख थे। दलाल, *सर्राफ* और *महाजन* विशेषीकृत वाणिज्यिक समुदाय थे। *हुंडी* और ऋण देने की प्रथा पूर्ण रूप से विकसित थी। ब्याज की दर कुछ अधिक थी। व्यापारिक श्रेणियां और संगठन पूर्ण रूप से स्थापित थे। व्यापारिक गतिविधियों के लिए आमतौर पर वे ही नियम और कानून बनाया करते थे।

12.7 शब्दावली

हुंडी	कागज पर लिखा एक वचन पत्र जिसके द्वारा किसी निर्धारित समय और स्थान पर लिखी गई राशि देने की व्यवस्था की जाती थी
प्रेरित व्यापार (Induced Trade)	वह व्यापार जिसका जन्म भू-राजस्व की आवश्यकता के कारण हुआ
राहदारी	पथ कर
सर्राफ	मुद्रा परिवर्तक

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 12.2

2) देखें उप-भाग 12.2.1

3) देखें भाग 12.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 12.3.1

2) देखें उप-भाग 12.3.1

3) देखें उप-भाग 12.3.2

4) उप-भाग 12.3.3 देखें

5) उप-भाग 12.3.3 देखें

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 12.3.4

2) देखें उप-भाग 12.3.5

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 12.4.1

2) देखें उप-भाग 12.4.1

3) देखें उप-भाग 12.4.2

4) देखें उप-भाग 12.4.3

5) देखें उप-भाग 12.4.4 और 12.4.5

12.9 संदर्भ ग्रंथ

फुकाज़ावा, एच., (1991) *द मिडिवल डेक्कनः पेज़ेंट्स, सोशल सिस्टम्स एंड स्टेट्स, सिक्सटींन टू ऐटीन्थ सेंचुरीज* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

मूसवी, शीरीन, (1987) *द इकॉनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर **c.** 1575ः ए स्टैटिस्टीकल स्टडी* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

रेचौधरी, तपन एवं इरफान हबीब, (1982) (संपादित) *द कैंब्रिज इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* खंड 1ः *लगभग 1200-1750* (लंदनः कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

सिंह, एम. पी., (1985) *टाउन, मार्केट, मिंट एंड पोर्ट इन द मुगल एंपायर (1556-1707)ः एन एडमिनिस्ट्रेटिव कम इकोनॉमिकस स्टडी* (नई दिल्लीः अदम पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स).

स्टाइन, बर्टन, (1985) *द न्यू कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग 1, *विजयनगर* (न्यूयॉर्कः कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

12.10 शैक्षणिक वीडियो

दिल्ली सल्तनतः इंडस्ट्री, ट्रेड एंड कॉमर्स। विद्या-मित्र
https://www.youtube.com/watch?v=TCbkw8Gl0Ag

टॉकिंग हिस्ट्री |11| दिल्लीः द ट्रेड रूट्स ऑफ कैपिटल। राज्यसभा टी वी
https://www.youtube.com/watch?v=UDMM20q2kK4

इकाई 13 समुद्री व्यापार*

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन समुद्री व्यापार

13.2.1 समुद्री और तटीय व्यापार

13.2.2 आयात व निर्यात

13.2.3 पुर्तगालियों का आगमन

13.3 मुगलों के अधीन समुद्री व्यापार

13.3.1 तटीय व्यापार

13.3.2 समुद्री मार्ग

13.4 पुर्तगालियों का आगमन

13.4.1 निर्यात और आयात की वस्तुएँ

13.4.2 पुर्तगाली व्यापार के लिए पूंजी निवेश

13.4.3 भारत के साथ पुर्तगाली व्यापार की प्रकृति

13.5 भारतीय शासक और यूरोपीय कंपनियाँ

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.9 संदर्भ ग्रंथ

13.10 शैक्षणिक वीडियो

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप दिल्ली सल्तनत के दौरान समुद्री व्यापार में वृद्धि के बारे में पढ़ेंगे। बाद में मुगलों के अधीन इस व्यापारिक मेल-जोल में कई अंतर-संबंधित घटनाक्रम हुए। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- दिल्ली सल्तनत और मुगलों के अधीन समुद्री व्यापार के स्वरूप को समझ सकेंगे,
- इन व्यापारिक गतिविधियों में शामिल प्रमुख व्यापारिक समूहों को जान सकेंगे,
- यूरोप और एशिया के बीच समुद्री मार्ग से आवागमन शुरू होने के महत्व को रेखांकित कर सकेंगे,
- इस काल में समुद्री मार्ग पर पुर्तगालियों के एकाधिकार पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- हिंद महासागर के व्यापार में पुर्तगालियों की भूमिका – जिसमें पूंजी निवेश का तरीका और पुर्तगाली व्यापार की प्रकृति शामिल है – का विश्लेषण कर सकेंगे,

***प्रो. शीरीन मूसवी, सेंटर ऑफ एडवान्स्ड स्टडी इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. के. एस. मैथ्यू, पांडिचेरी विश्वविद्यालय, पांडिचेरी और प्रो. ए. आर. खान तथा प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।**

यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई एच आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 6, इकाई 21; और ई एच आई-04: *भारतः 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक*, खंड 1, इकाई 4 और खंड 6, इकाई 23 और 25 से ली गई है।

- पुर्तगालियों द्वारा पुनः स्थापित आज्ञा-पत्र (***cartaz; कार्टाज़***) प्रणाली से हिंद महासागर की व्यापारिक संरचना में लाए परिवर्तन को पहचान सकेंगे,
- इस काल में आयात-निर्यात की जा रही प्रमुख वस्तुओं के बारे में जान सकेंगे,
- इस व्यापारिक कड़ी में प्रमुख बंदरगाहों की सूची बना सकेंगे,
- भारत के समुद्री और तटीय व्यापार के स्वरूप को समझ सकेंगे, और
- हिंद महासागर क्षेत्र में यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के आगमन के प्रभाव की चर्चा कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

भारतीय समुद्री व्यापार का दो भागों में अध्ययन किया जा सकता हैः तटीय व्यापार और उच्च समुद्री व्यापार। तटीय व्यापार हिन्द महासागर के दो समुद्री क्षेत्रों से संचालित किया जाता था। ये **भारत के पश्चिमी** और **पूर्वी तट** थे। पश्चिमी तट सिंध से मालाबार तक फैला हुआ था और फारस की खाड़ी, लालसागर और पूर्व अफ्रीका के पत्तनों से जुड़ा हुआ था। पूर्वी तट बंगाल से कोरोमंडल तक फैला हुआ था लेकिन मालाबार पत्तनों सहित दक्षिणी-उत्तरपूर्व एशिया और चीन से जुड़ा हुआ था (हैदर, 2011:164)। जैसा कि पिछली इकाई में उल्लेख किया गया है कि भारत में चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में निर्यात की जाने वाली तीन मुख्य वस्तुएं, मसाले, कपड़ा और नील थीं। इस व्यापारिक तंत्र में संलग्न भारत के उद्यमी व्यापारिक समुदायों के अलावा गुजरात के **बोहरा**, विदेशी व्यापारी भारत के अलग-अलग तटीय क्षेत्रों में बसे हुए थे, जैसे काहिरा के अरब व्यापारी गुजरात में बसे हुए थे। इब्न बतूता ने भी चीनी व्यापारियों का बड़ा समुदाय मालाबार में बसा हुआ पाया था।

पूर्व मध्ययुगीन और आरंभिक आधुनिक काल को भारतीय इतिहास में मुख्य रूप से यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के भारत आने के साथ-साथ हिन्द महासागर में निजी व्यापरियों के आने से चिन्हित किया जाता है। इस अवधि में भारतीय समुद्री व्यापार के अन्य निर्धारक लक्षण हैंः व्यापक कीमती धातु की अधिकता, भारतीय कपड़े में व्यापार और समुद्री व्यापार और राज्य के बीच संबंध (प्रकाश, 2011:1)। इस क्षेत्र को अपने विशिष्ट व्यापारिक व्यवस्था के कारण जाना जाता था जो कि न केवल आर्थिक सीमा तक ही सीमित थी बल्कि इसने यहाँ फल-फूल रहे लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकृति पर भी प्रभाव डाला।

इस इकाई में हम दिल्ली सल्तनत और मुगलों के शासन के दौरान हिन्द महासागर क्षेत्र में किए जा रहे व्यापार की प्रकृति पर ही चर्चा करेंगे। इसमें व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तुओं को सम्मिलित किया गया है, उदाहरण के लिए आयात और निर्यात; इस व्यापार का स्थापित और कुछ जो विकसित हो रहे व्यापारिक तंत्र द्वारा संचालन करना; व्यापारिक समुदाय जो इस व्यापारिक तंत्र में भागीदारी निभा रहा था; यूरोपीय और निजी व्यापरिक कंपनियों का हिन्द महासागर में आना; राज्य और इस व्यापार में संलग्न समुदायों का संबंध; और हिन्द महासागरीय व्यापार में पुर्तगालियों के आगमन पर विशेष अध्ययन। यह अध्ययन हमें हमारे अध्ययन काल में समुद्री व्यापार की विस्तृत प्रकृति को समझने में सहायता करेगा।

13.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन समुद्री व्यापार

सल्तनत काल में समुद्री व्यापार काफी समृद्ध अवस्था में था।

13.2.1 समुद्री और तटीय व्यापार

समुद्री व्यापार

खलजी काल में दिल्ली सल्तनत में गुजरात के मिलने से दिल्ली सल्तनत और फारस की खाड़ी तथा लाल सागर के बीच व्यापारिक संबंध बढ़े। गुजरात फारस की खाड़ी और लाल सागर से व्यापारिक मार्गों द्वारा जुड़ा था। फारस की खाड़ी से गुजरने वाले जहाजों के लिए बसरा और

हुर्मुज प्रमुख बंदरगाह थे। लाल सागर में अदन, मोचा और जद्दा के बंदरगाह गुजरात के लिए महत्वपूर्ण थे। इन बंदरगाहों में एक ओर तो माल डेमस्कस और अलेप्पो पहुंचता था और दूसरी ओर एलैक्जैंड्रिया। अलेप्पो और एलैक्जैंड्रिया भूमध्यसागर के मार्ग में थे जिससे यूरोप से संपर्क हो सका। गुजरात के बंदरगाहों से माल पूर्व की ओर भी मलक्का जलडमरुमध्य में मलक्का और इंडोनेशियाई द्वीपसमूह में बेन्टम और अचिन पहुंचता था।

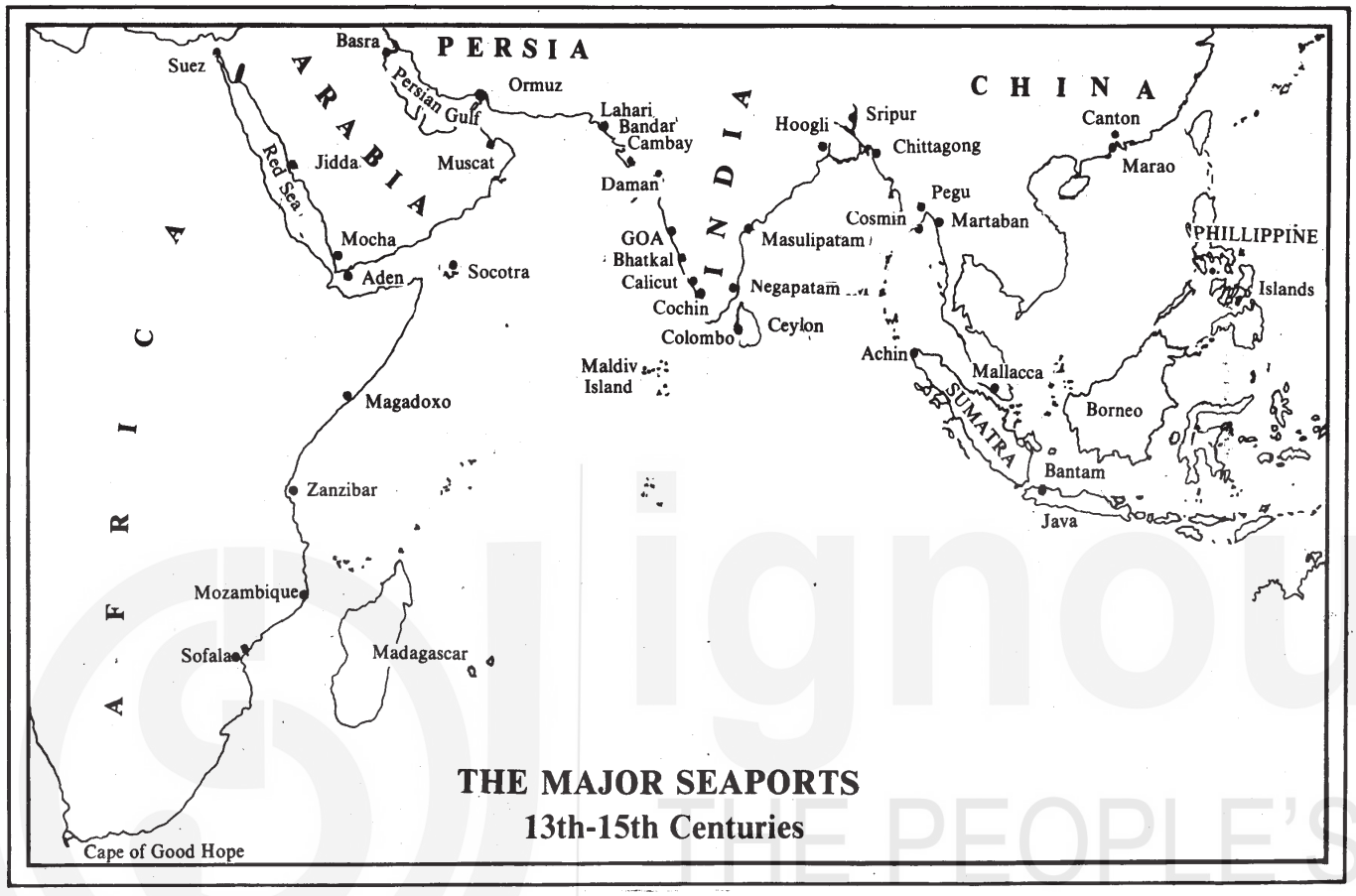

मानचित्र 13.1: 13वीं-15वीं शताब्दी के दौरान प्रमुख बंदरगाह

स्रोत: ई एच आई-03: *भारत: 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 6, इकाई 21, पृ. 27

एक यूरोपीय यात्री टॉम पायर्स, जो 16वीं सदी के प्रथम दशक में भारत आया, खंभात (गुजरात में) के व्यापार के बारे में कहता है:

> खंभात अपने दोनों हाथ आगे फैलाता है। अपने दाहिने हाथ से वह अदन पहुंचता है और दूसरे हाथ से मलक्का...

पायर्स आगे लिखता है:

> मलक्का खंभात के बिना नहीं रह सकता, न ही खंभात मलक्का के बिना, अगर यह दोनों अत्यधिक धनी और बहुत समृद्धशाली बनना चाहते हैं। अगर खंभात को मलक्का के साथ व्यापार न करने दिया जाए तो इसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा क्योंकि फिर इसके पास अपने माल के लिए कोई मार्ग नहीं बचेगा।

गुजरात से मलक्का को निर्यात का प्रमुख मार्ग रंगीन कपड़े थे जो खंभात और गुजरात के अन्य शहरों में बनते थे। इन कपड़ों की इन नगरों (मलक्का में) में बहुत मांग थी। बदले में गुजरात के व्यापारी इन स्थानों से मसाले लेकर आते थे। 'रंगीन कपड़ों के बदले मसाले' के व्यापार का यह पैटर्न पुर्तगालियों के एशिया में प्रवेश के समय तक जारी रहा।

इटली का यात्री वार्थेमा, जो 16वीं सदी के प्रथम दशक में भारत आया, लिखता है कि खंभात के बंदरगाह में विभिन्न देशों के 300 जहाज (प्रतिवर्ष) आते-जाते हैं। यह भी बताता है कि लगभग 400 'तुर्की' व्यापारी द्यु में रहते थे।

इल खानों के दरबार का इतिहासकार वस्साफ लिखता है कि प्रतिवर्ष माबार और खंभात में ईरान से लगभग 10,000 घोड़े लाए जाते थे। भड़ौच के सिक्कों के भंडारों में दिल्ली सल्तनत के सिक्कों के साथ मिस्र, सीरिया, यमन, ईरान, जेनोवा, आर्मीनिया और वेनिस के भी सोने और चांदी के सिक्के मिले हैं जो बड़े पैमाने के विस्तृत समुद्री व्यापार की पुष्टि करते हैं।

बंगाल के बंदरगाहों के भी चीन, मलक्का और सुदूर पूर्व से व्यापारिक संबंध थे। सूती वस्त्र, शक्कर और रेशम बंगाल से निर्यात की मुख्य वस्तुएं थीं। वार्थेमा के अनुसार प्रत्येक वर्ष लगभग 50 जहाज यह वस्तुएं लेकर ईरान और विभिन्न स्थानों को जाते थे। बंगाल में हुर्मुज़ से नमक और मालदीव से समुद्री सीपें आयात की जाती थीं। यह सीपें बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सिक्कों के रूप में प्रयोग की जाती थीं।

समुद्री व्यापार का एक अन्य केंद्र सिंध था। यहां का सबसे महत्वपूर्ण बंदरगाह दैबुल था। इस क्षेत्र के व्यापारिक संबंध लाल सागर की अपेक्षा फारस की खाड़ी के बंदरगाहों से अधिक थे। सिंध से विशेष किस्म के कपड़े और दूध से बने पदार्थ निर्यात किए जाते थे। धुंआरी मछली (smoked-fish) भी यहां की एक विशेषता थी।

तटीय व्यापार

तटीय व्यापार का विकसित होना स्वाभाविक ही था। सिंध से लेकर बंगाल तक बीच में गुजरात, मालाबार और कोरोमंडल के तट थे। इससे विभिन्न क्षेत्रों के माल को तटीय शहरों में विनिमय का अवसर मिला जो स्थलीय अंतर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न था।

13.2.2 आयात व निर्यात

आयात की दो प्रमुख वस्तुएं थीं:

i) घोड़े – घुड़सवार सेना के लिए घोड़ों की जरूरत हमेशा बनी रहती थी क्योंकि भारत में अच्छी नस्ल के घोड़े नहीं होते थे और मध्य एशिया और अरब के घोड़ों के लिए भारत की जलवायु अनुकूल नहीं थी। यह घोड़े प्रमुखतः ज़ोफर (यमन), किस, हुर्मुज़ तथा अदन से आयात किए जाते थे।

ii) बहुमूल्य धातुएं – सोना और चांदी। विशेषकर चांदी की मांग बहुत अधिक थी क्योंकि भारत में खदानों से बहुत ही कम चांदी प्राप्त होती थी। साथ ही सिक्कों और विलासिता की वस्तुएं बनाने के लिए इसकी मांग बढ़ती रहती थी। ज़री, कमख्वाब और रेशम के कपड़े चीन, एलैक्जैंड्रिया तथा इराक से आयात किए जाते थे। यूरोप से आने वाली मूल्यवान और विलासिता की वस्तुएं गुजरात के बंदरगाहों से होकर आती थीं।

सल्तनत काल में भारत से निर्यात की प्रमुख वस्तुएं अनाज और सूती वस्त्र थे। फारस की खाड़ी के कुछ क्षेत्र अपनी खाद्य आवश्यकताओं के लिए पूर्णतः भारत पर निर्भर थे। दास मध्य एशिया को और नील ईरान को निर्यात किए जाते थे। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी वस्तुएं निर्यात की जाती थीं। गोमेद तथा अन्य बहुमूल्य पत्थर खंभात से निर्यात किए जाते थे।

13.2.3 पुर्तगालियों का आगमन

विस्तृत व्यापारिक गतिविधियों के बावजूद विदेशी व्यापार में भारतीय व्यापारियों की भागीदारी नगण्य थी। केवल गुजराती बनियों का एक वर्ग, दक्षिण के चेट्टी तथा भारत में बसे कुछ मुसलमान व्यापारी इस बड़े व्यापार में भाग लेते थे। व्यापार, मुख्यतः अरब व्यापारियों के हाथ में था। वे फारस की खाड़ी से संचालन करने वाले व्यापरियों में प्रधान थे, यद्यपि कुछ विदेशी मुस्लिम व्यापारी भी इस क्षेत्र में बस गए थे (हिन्द महासागरः अरबी में ***बहर अल-हिन्द***)। आरंभिक मध्यकालीन अवधि में अरबों ने अपने शाखापथ मार्ग में आने वाले सभी महत्वपूर्ण सोने के उत्पादन और एकत्रित करने वाले क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। इन्होंने इस व्यापार तंत्र में सोने और अन्य कीमती धातुओं का भारी मात्रा में मुद्राचलन कर दिया था। पुर्तगालियों के आने से बहुत पहले से ही हिन्द महासागार में हथियारों का व्यापार, समुद्री मार्गों पर कब्जा और अन्य प्रकार की डकैती की घटनाएं हुआ करती थीं।

1498 में पुर्तगाली आशा अंतरीप (Cape of Good Hope) से होकर कालीकट पहुंचे। इसने भारतीय समुद्री व्यापार में 'शक्ति के तत्व' का एक नया आयाम जोड़ा (विस्तृत जानकारी के लिए देखें **भाग 13.4**)। अपने श्रेष्ठ तोप युक्त जहाजों की सहायता से पुर्तगालियों ने शीघ्र ही एशिया के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, विशेष रूप से भारतीय समुद्रों के पश्चिमी भाग में स्थित व्यापारिक केंद्र भी इस प्रभुत्व के अधीन हो गए। इसने भारतीय व्यापार पर अरब हिस्सेदारी बहुत कम कर दी हालांकि पूर्वी क्षेत्र में, विशेषकर मलक्का में, भारतीय व्यापारियों के साथ वे अपना अस्तित्व बचा पाए।

पुर्तगालियों ने 1510 में गोवा प्राप्त कर लिया और यह उनका मुख्यालय बना। उन्होंने 1511 में मलक्का, 1515 में हुर्मुज़, 1534 में बेसीन और 1537 में द्यु पर अधिकार कर लिया। उनके संरक्षण में शीघ्र ही गोवा निर्यात व्यापार का एक प्रमुख केंद्र बन गया। पुर्तगाली गोवा के सामरिक महत्व को भली-भांति जानते थे और समझते थे कि भारत में अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए गोवा महत्वपूर्ण है। परंतु गोवा पर पुर्तगालियों का अधिकार अन्य पश्चिम भारतीय बंदरगाहों के लिए हानिकारक था। टॉम पायर्स उचित ही कहता है कि दक्खन और गुजरात के मुसलमान शासकों के लिए 'गोवा एक हानिकारक पड़ोसी था'। भारतीय समुद्र पर 100 साल के पुर्तगाली प्रभुत्व के फलस्वरूप अनेक पश्चिमी तट के बंदरगाहों का पतन हो गया। यह सब पुर्तगालियों की निम्नलिखित आक्रमक नीतियों के कारण हुआः

i) उन्होंने समुद्री मार्गों पर अधिकार कर लिया,

ii) वे अन्य व्यापारियों द्वारा ले जाए जाने वाले माल और उसकी मात्रा पर भी नियंत्रण रखते थे, तथा

iii) उन्होंने *कार्टाज़* (*cartaz*; फारसी ***किरता*** अर्थात् कागज का पत्र) जारी करने की परंपरा प्रारंभ की। यह एशियाई समुद्र में जहाजों के आने-जाने के लिए एक प्रकार का आज्ञा-पत्र था। इसके न होने पर माल लूटकर जहाज ज़ब्त किया जा सकता था। *कार्टाज़* देने के लिए एक निश्चित धनराशि ली जाती थी।

कोई आश्चर्य नहीं कि इन नीतियों ने भारतीयों तथा अरबों के समुद्री व्यापार को बहुत हानि पहुंचाई (पुर्तगाली व्यापार की प्रकृति पर विस्तृत चर्चा **भाग 13.4** में की गई है)।

बोध प्रश्न-1

1) हिंद महासागरीय व्यापारिक तंत्र में अरब व्यापारियों की भूमिका पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) 13वीं-14वीं शताब्दी की प्रमुख आयात व निर्यात की वस्तुओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) पुर्तगालियों के आगमन से पहले, दिल्ली सल्तनत के अधीन, समुद्री व्यापार की प्रकृति का विवरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

13.3 मुगलों के अधीन समुद्री व्यापार

इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता भारत की व्यापारिक गतिविधियों में कई यूरोपीय देशों का शामिल होना था। 16वीं शताब्दी के आरंभ में ही भारत के पश्चिमी भागों में पुर्तगाली आकर बस चुके थे। 17वीं शताब्दी के दौरान फ्रांसीसी, डच और अंग्रेज व्यापारी भी व्यापारिक गतिविधियों में शामिल हुए।

लंबी दूरी के समुद्री व्यापार में कई प्रकार की अनिश्चिताएं और खतरे थे। इन अनिश्चितताओं के कारण पोत बंधक ऋण ('avog' या bottomry) की शुरुआत हुई। यह एक प्रकार का सट्टेबाजी निवेश था जो उस काल में काफी प्रचलित था। इसमें ब्याज की दर 14 से 60 प्रतिशत तक होती थी। यह राशि किसी खास स्थान को जा रहे जहाज में निवेशित की जाती थी। ब्याज की दर यात्रा विशेष के खतरे पर निर्भर करती थी। यात्रा या सभी खतरों और नुकसान से ऋणदाता ही प्रभावित होता था।

13.3.1 तटीय व्यापार

लंबी दूरी और यातायात के तीव्र गति के साधनों के अभाव के कारण अंतर-प्रांतीय व्यापार समुद्र के रास्ते होता था जिनमें कई तटीय इलाके शामिल होते थे। पश्चिमी तट पर तटीय व्यापार ज्यादा गतिशील था, हालांकि पूर्वी तट पर भी काफी व्यापारिक गतिविधियां होती थीं। दोनों तटों पर व्यापारिक गतिविधियां विभिन्न तरीकों से संगठित की जाती थीं। पश्चिमी तट पर समुद्री डाकुओं का खतरा गंभीर था। अतः इस रास्ते से जाने वाले जहाज एक कारवां में जाते थे जबकि पूर्वी तट पर पूरे वर्ष छोटी नौकाओं द्वारा व्यापार होता रहता था।

पश्चिमी तट पर मई और सितंबर के बीच सुरक्षा के साथ कारवां बनाकर व्यापारियों के जहाज गोवा से कोचीन और गोवा और खंभात के बीच दो से तीन बार चक्कर लगा लेते थे। खंभात जाने वाले कारवां में विभिन्न आकारों के लगभग 200-300 जहाज और नौकाएं होती थीं। यह गेहूं, तेल, दाल, चीनी, कपड़े और अन्य विभिन्न फुटकर वस्तुएं ले जाती थीं। कोचीन और गोवा के बीच जाने वाले कारवां इतने बड़े नहीं होते थे पर इसमें विविध प्रकार के सामान ले जाए जाते थे। मलक्का और पूरब से आने वाले जहाज श्रीलंका के आसपास कहीं मिलते थे और फिर बंगाल और कोरोमंडल तट से आई नौकाएं इन्हें सुरक्षित रूप से कोचीन पहुंचा देती थीं।

बंगाल के तटीय शहरों में तांबा, ज़िंक, टीन, तंबाकू, मसाले और छींट के कपड़ों से लदी नावें कोरोमंडल तट से आती थीं। वहीं कोरोमंडल तट पर तांबा, पारा, हिंगुल, काली मिर्च, आदि गुजरात से और मसाले मालाबार से पहुंचते थे। उड़ीसा के तटीय शहरों का भी कोरोमंडल और मालाबार के तटों से संबंध था। विजयनगर और गोलकुंडा से लाया गया कपड़ा, अनाज, लोहा, इस्पात और अन्य धातुएं कोरोमंडल के रास्ते बंगाल पहुंचती थीं। बंगाल के तट से चावल, कपड़े और अन्य वस्तुएं पश्चिमी तट तक पहुंचाई जाती थी। सिंध-खंभात, गुजरात-मालाबार, बंगाल-कोरोमंडल और मालाबार-कोरोमंडल के बीच तटीय व्यापार काफी मात्रा में होता था।

गुजरात और बंगाल के रेशमी वस्त्रों का भी निर्यात होता था। तैयार कपड़े के अलावा सूती और रेशमी सूत की भी मांग थी। मोरलैंड की गणना है कि केवल इंग्लिश कंपनी की मांग 1625 में 2,00,000 थान, 1628 में 1,50,000 थान और 1630 में लगभग 1,20,000 थान की थी। गुजरात में 1630 के दशक में पड़े अकाल से इस पर प्रभाव पड़ा पर 1638-1641 में सूरत से प्रतिवर्ष लगभग 50,000 थान जहाजों द्वारा ले जाए जाने के विवरण मिलते हैं। 1650 के बाद पूर्वी तटों से भी व्यापार शुरू हुआ और मद्रास से प्रतिवर्ष एक लाख से ऊपर थानों की आपूर्ति हुई। डचों की प्रतिवर्ष 50,000 थानों से अधिक की मांग थी। 1661 के एक दस्तावेज से पता चलता है कि आर्मीनियनों ने 10 लाख रुपये का कपड़ा खरीदकर उसे ईरान भेजा था।

उपर्युक्त आँकड़े निर्यात का मोटा-मोटा खाका प्रस्तुत करते हैं, फिर भी इनमें कपड़े के विपुल मात्रा में निर्यात की जानकारी मिलती है।

13.3.2 समुद्री मार्ग

अरब सागर और बंगाल की खाड़ी प्रमुख समुद्री मार्ग थे। आशा अंतरीप (Cape of Good Hope) के रास्ते समुद्री मार्ग की खोज के पहले प्रमुख मार्ग थेः

क) उत्तर से आने वाला समुद्री मार्ग खंभात, सूरत, थट्टा से होकर फारस की खाड़ी और लाल समुद्र में मिलता था।

ख) दूसरा मार्ग दाभोर, कोचीन और कालीकट से होकर एडन और मोचा पहुंचता था। मोचा में वस्तुओं को लाल सागर और उसके बाद स्थल मार्ग से एलेक्जेंड्रिया होते हुए काहिरा पहुंचाया जाता था। एलेक्जेंड्रिया से भी यूरोपीय देशों को वस्तुओं की आपूर्ति की जाती थी। आशा अंतरीप की खोज के बाद यूरोप के देशों को नए अवसर प्राप्त हुए। अब उन्हें एलेक्जेंड्रिया या एलेप्पो पर निर्भर नहीं रहना पड़ा। इसके बदले वे भारत और दक्षिण एशियाई देशों से सीधे व्यापार करने लगे।

पूर्वी समुद्रों के रास्ते भारतीय व्यापारी काफी समय से चीन और इंडोनेशियाई द्वीप समूहों के साथ व्यापार करते आ रहे थे। हुगली, मसूलीपट्टनम और पुलिकट से वस्तुएं सीधे अचिन, बटाविया और मलक्का भेजी जाती थीं। मलक्का जलडमरुमध्य के जरिए व्यापारी चीन में मकाओ और कैंटन तक चले जाते थे (तटीय, समुद्री तथा स्थल मार्ग से विदेशी व्यापार के लिए देखें **मानचित्र 12.2)**।

बोध प्रश्न-2

1) मुगलों के अधीन तटीय व्यापार पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

2) मुगलों के अधीन प्रमुख समुद्री मार्गों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

.....

3) मुगलों के अधीन समुद्री व्यापार की प्रमुख विशेषता क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

13.4 पुर्तगालियों का आगमन

हम पुर्तगालियों के भारतीय समुद्र में आगमन की चर्चा **भाग 13.2.2** में कर चुके हैं। यहां हम आयात तथा निर्यात की प्रमुख वस्तुओं और पुर्तगाली व्यापार में पूंजी निवेश कैसे किया जाता था तथा पुर्तगालियों के भारतीय व्यापार की प्रकृति पर चर्चा करेंगे।

13.4.1 निर्यात और आयात की वस्तुएँ

पुर्तगालियों ने पूर्वी देशों के साथ समुद्री रास्ते से व्यापार करना शुरू किया। उनका मूल उद्देश्य उत्पादन के क्षेत्रों से सीधे मसाले प्राप्त करना था। अभी तक उन्हें इतालवी या मुसलमान व्यापारियों से इसे खरीदना पड़ता था। यूरोपीय भोजन में काली मिर्च का उपयोग खूब होने लगा था। खासकर मांस को ज्यादा देर तक टिकाए रखने के लिए काली मिर्च की मांग बढ़ी। इसके अतिरिक्त अदरक, दालचीनी, इलायची, जावित्री, जायफल और पूर्व की अनोखी वनस्पतियों की यूरोपीय बाजार में खूब मांग थी। इसके अतिरिक्त मलमल, छींट के कपड़े तथा हाथियों, आदि की पुर्तगाल में खूब मांग थी।

पुर्तगालियों के पास कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिससे वे पूर्व की इन चीजों से आदान.प्रदान कर सकें। पूर्वी कुलीन तंत्र के बीच उनकी वस्तुओं की कुछ मांग थी पर यह काफी कम थी। अतः पूर्व से वस्तुओं की खरीद के लिए व्यापारी पश्चिम से बहुमूल्य धातुएं, विशेषकर चांदी, सिक्कों के रूप में अथवा बुलियन के रूप में, लाया करते थे।

मालाबार और कोंकण तट

मालाबार और कोंकण से सबसे ज्यादा काली मिर्च का निर्यात होता था। प्रारंभ में मालाबार की काली मिर्च मलक्का, जावा और कनारा की काली मिर्च से बेहतर मानी जाती थी। 16वीं शताब्दी के अंत और 17वीं शताब्दी के आरंभ में कनारा से पहले से ज्यादा काली मिर्च का निर्यात होने लगा। ऐसा माना जाता है कि 16वीं शताब्दी के प्रथम दशक में पुर्तगालियों ने मालाबार से लिस्बन को प्रतिवर्ष 25,000 से 30,000 क्विंटल मसाले (सभी प्रकार के) निर्यात किए थे। शताब्दी के अंत में ठेकेदारों के लिए मालाबार से लिस्बन को 30,000 क्विंटल काली मिर्च के निर्यात का लक्ष्य रखा गया। 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि 1546 में मालाबार और कोंकण तट से 36,664 क्विंटल काली मिर्च पुर्तगाल को निर्यात की गई।

मालाबार से निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तु अदरक थी। इसे सुखाकर भी निर्यात किया जाता था। मालाबार से दालचीनी का भी व्यापार होता था, पर यह श्रीलंका की दालचीनी से बेहतर नहीं थी। मालाबार तट से सफेद और लाल चंदन की लकड़ी भी पुर्तगाल को निर्यात की जाती थी।

इसके अतिरिक्त मालाबार, दाबुल, विजयनगर और सामान्य रूप से दक्खन से सभी प्रकार की हरड़ (myrobalans) पुर्तगाल को निर्यात की जाती थी। इसी प्रकार मालाबार और कोंकण तटों से पुर्तगाल को विभिन्न मात्राओं में लाख, नील, जटामांसी (spikenard), इमली, सुपारी, कपड़े, हाथी दांत और हल्दी का निर्यात किया जाता था। दासों का भी निर्यात किया जाता था।

1498 में कालीकट के ज़मोरिन शासक ने वास्कोडिगामा से जो निवेदन किया था उससे मालाबार और कोंकण तट पर आयातित वस्तुओं का पता चलता है। उससे सोना, चांदी, मूंगा और सिंदूरी रंग (scarlet) के लिए आग्रह किया गया था। गोवा के गवर्नर अफान्सो डि अलबुकर्क ने 1513 में पुर्तगाल के राजा को उन वस्तुओं की सूची दी थी जिन्हें भारत में बेचा जा सकता था। इन वस्तुओं में मूंगा, तांबा, पारा, सिंदूर, ज़री, मखमल, कालीन, गेरुआ रंग, गुलाब-जल और विभिन्न प्रकार के कपड़े शामिल थे। ये सभी वस्तुएं पुर्तगाल में नहीं मिलती थीं, लेकिन पुर्तगाली इन्हें फ्लैंडर्स, जर्मनी, इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों से प्राप्त करते थे। उदाहरण के लिए, डेमस्क (damask), सीसा, हिंगुल (cinnabar) और सोना सोफाला से; फ्रांसीसी और अंग्रेजी लिनन (एक प्रकार का चमकीला कपड़ा) के कपड़े, फिटकरी-पत्थर, टिन, अफीम, इस्पात, जेनेवा का मखमल, फ्लोरेंस का सिंदूरी रंग, लंदन से लाल कपड़ा, हॉलैंड से कपड़े, परिष्कृत तथा अपरिष्कृत मूंगा, आदि भारत में लाए जाते थे। कई प्रकार के ढाले हुए सिक्के भी आयातित होते थे। यह सब भारत में पुर्तगालियों के वाणिज्यिक-मुख्यालय कोचीन लाया जाता था। यहीं से इन वस्तुओं को भारत के विभिन्न भागों में भेजा जाता था। गोवा के मुख्यालय बनने के बाद पुर्तगाली सोना, चांदी जैसी बहुमूल्य वस्तुएं और नगदी अपने साथ गोवा ले गए और वितरण का कार्य भी वहीं से करने लगे।

उत्तर-पश्चिमी भारत

उत्तर-पश्चिमी भारत से पुर्तगाल को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में नील, कई प्रकार के कपड़े, रेशम, कछुए के खोल से बने हस्तशिल्प, आदि कुछ महंगी वस्तुएं थी। टाफ्टा (एक प्रकार का कपड़ा) भी निर्यात की जाने वाली महंगी वस्तु थी। साटन, द्वींट (चिंट्स), मलमल, धारीदार सूती कपड़ा, कैंम्ब्रिक-मलमल, रेशम के रुमाल, गोलकुंडा मखमल और चौल, दभोल तथा गुजरात के तट पर उपलब्ध विभिन्न प्रकार के रेशमी उत्पादों का निर्यात किया जाता था। इनमें रेशम का उत्पादन बुरहानपुर और बालघाट में होता था। चिंट्स कैम्बे में बनती थी और दमन और ग्विंगाओ के आसपास के इलाकों तथा बालाघाट में सूती कपड़ा बनता था। 17वीं शताब्दी के दौरान कपड़े के उत्पादन में वृद्धि हुई।

उत्तर-पश्चिमी तट पर तांबा, चौड़े पाट वाले कपड़े और विभिन्न तरीके से नकद धन का आयात हुआ। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत से कुछ उत्पाद जैसे काली मिर्च और मसाले भी कपड़ों के बदले उत्तर-पश्चिमी तट पर पहुंचे।

पूर्वी तट

भारत के पूर्वी तट से मुख्य रूप से विभिन्न प्रकार के कपड़ों का निर्यात होता था। कोरोमंडल तट से पुर्तगालियों को चंदन की लकड़ी भी निर्यात की जाती थी। जटामांसी (spikenard) बंगाल में उपजाया जाता था और इसे पुर्तगाल को निर्यात करने के लिए कोचीन लाया जाता था। इस इलाके से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में मोती सबसे महंगी वस्तु थी। यह मुख्य रूप से उस तट से जहां मोती वाले सीपीहों से (Pearl Fishery) प्राप्त किया जाता था। बंगाल से पुर्तगाल जाने वाली वस्तुओं में सूती और रेशमी वस्त्र तथा कढ़ाई वाले वस्त्र का महत्वपूर्ण स्थान था। सूखा अदरक, हरड़ (myrobalans), मक्खन, तेल, मोम और चावल भी बंगाल से प्राप्त किए जाते थे।

पुर्तगाली ज़रीदार कपड़ा, बूटेदार कपड़ा, डेमस्क (damask), साटन का कपड़ा, टाफ्टा, लौंग, जायफल, जावित्री, कपूर, दालचीनी, काली मिर्च, संदूक, लिखने का डेस्क, अमूल्य मोती और गहने बंगाल व्यापार के लिए लाए। ये सब वस्तुएं मलक्का, चीन, बोर्नियो, श्रीलंका और मालाबार तट से लाई गईं। पुर्तगाली मालदीव से कौड़ियां, सोलोर और तिमोर से सफेद और लाल चंदन की लकड़ी भी बंगाल तक ले गए।

दक्षिण-पूर्व एशिया

कई प्रकार के मसाले दक्षिण-पूर्व प्रदेशों और श्रीलंका से इकट्ठे किए जाते थेः जैसे मलक्का और जावा से काली मिर्च प्राप्त की जाती थी। मलक्का में उच्च कोटि की लौंग उपजाई जाती थी। श्रीलंका से श्रेष्ठ दालचीनी प्राप्त कर लिस्बन भेजी जाती थी। तिमोर और तेन्नासेरिम में अच्छी चंदन की लकड़ी पाई जाती थी जिसकी लिस्बन में मांग थी। सुमात्रा से लाख पुर्तगालियों के प्रयोग के लिए भेजा जाता था। बोर्नियो, सुमात्रा, पासेम और चीन से अच्छी कोटि का कपूर लिस्बन भेजा जाता था। पुर्तगाली पेगू से बैन्ज़ोइन अपने देश ले जाते थे। पुर्तगाली चीन से रेवंदचीनी (rhubarb) और पेगू से कस्तूरी ले जाते थे।

इसके बदले पुर्तगाली दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्र को नगद धन, चांदी, सोना और कपड़ा देते थे। इनसे अधिकांश वस्त्रों का उत्पादन भारत में बना होता था।

13.4.2 पुर्तगाली व्यापार के लिए पूंजी निवेश

1500-1506 के बीच पुर्तगालियों ने मालाबार तट से जितना व्यापार किया था उसे आधार बनाकर 1506 में एक इतालवी के यह अनुमान लगाया था कि पूरे पूर्व के साथ प्रत्येक वर्ष व्यापार करने के लिए 1,70,000 डूकाट की जरूरत पड़ेगी। पुर्तगाल का राजा इस राशि का एक चौथाई हिस्सा खर्च करता था, शेष राशि पुर्तगाली राजा के सहयोगी व्यापारियों और पूंजी निवेशकों से प्राप्त की जाती थी। 1500 में उसने एक आदेश द्वारा देशी और विदेशी व्यापारियों को पूर्व की ओर अपना जहाज ले जाने की अनुमति दे दी। युद्ध-लूट, नज़राना और निजी व्यापारियों पर लगाए गए कर से भी भारत के साथ होने वाले व्यापार के लिए धन प्राप्त होता था।

यूरोपीय पूंजी निवेशक

16वीं शताब्दी में इतालवी, खासकर फ्लोरेंस निवासी, प्रमुख पूंजी निवेशक के रूप में सामने आए। अधिकांश इतालवी पूंजी निवेशकों ने पुर्तगाली राजाओं के साथ समझौता किया। वे लिस्बन में राजा को नगद धन या वस्तुएं दिया करते थे। राजा उसका इस्तेमाल भारत में काली मिर्च तथा अन्य वस्तुओं को खरीदने के लिए किया करता था। समझौते के मुताबिक ये वस्तुएं लिस्बन में इन पूंजी निवेशकों को दे दी जाती थीं। कुछ पूंजी निवेशकों ने अपने प्रतिनिधि भी भारत भेजे। पूर्वी क्षेत्र में पुर्तगाली अधिकारियों की निगरानी में नगद धन या वस्तुएं भेजी जाती थीं।

भारतीय वस्तुओं ने जर्मन पूंजी निवेशकों और व्यापारियों का भी ध्यान आकृष्ट किया। पुर्तगाली राजा ने खुले दिल से उनका स्वागत किया क्योंकि अपने बल पर उसे पूर्वी व्यापार को संभालने

में कठिनाई हो रही थी। भारत से लाई गई वस्तुओं, खासकर काली मिर्च और अन्य मसालों का आंशिक रूप में तांबे के माध्यम से भुगतान होता था, अतः तांबे की बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती थी। यूरोप में फूगर जैसे कुछ जर्मन व्यापारी पूंजी निवेशकों का यूरोप में तांबे के उत्पादन पर एकाधिकार था। इससे भारत से व्यापार करने में काफी सुविधा हो गई। अब जर्मन पूंजी निवेशक लिस्बन स्थित भारतीय केंद्र को अपना जहाज, धन और वस्तुएं सौंप दिया करते थे। ये वस्तुएं पुर्तगाली झंडे के नीचे भारत में लाई जाती थीं और वहां से लाई वस्तुएं समझौते की शर्तों के अनुसार लिस्बन में पूंजी निवेशकों को बेच दी जाती थीं।

16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वैलसर और फूगर ने जिराल्डो पेरिस और युआन बैतिस्ता रोवालेस्को ने एक व्यापार-संघ बनाया और 30,000 क्विंटल काली मिर्च सीधे भारत से खरीदने और भारत को प्रतिवर्ष 1,70,000 *क्रूसाडो* भेजने का समझौता किया। इस प्रकार वैलसर और फूगर की फर्में लगातार भारत के व्यापार से जुड़ी रहीं।

फूगर के अलावा हरवार्ट और इम्हॉफ की फर्म भी विजयनगर से हीरे और अन्य मूल्यवान पत्थरों का व्यापार करती थी।

16वीं शताब्दी में कुछ पुर्तगाली व्यापारी ऐसे थे जिन्होंने अपने बल पर भारत के साथ व्यापार किया। भारत में नियुक्त राज्य के अधिकारियों को भी भारत के साथ व्यापार करने की इजाजत थी। पदानुक्रम में अपने पद के अनुसार उन्हें नगद राशि के बदले भारतीय वस्तुएं पुर्तगाल ले जाने का कुछ अधिकार प्राप्त था। उनके नियुक्ति पत्र में इन सेवा.शर्तों का उल्लेख कर दिया जाता था और यह उनके परिलाभों का हिस्सा था।

भारतीय व्यापारी और शासक

कई बार पुर्तगालियों के पास नगद धन या वस्तु विनिमय के लिए कोई वस्तु नहीं होती थी तो बहुत से भारतीय व्यापारी उन्हें उधार में सामान दे देते थे। कोचीन के व्यापारी खासकर मरक्कारों ने इस ढंग से पुर्तगालियों की काफी सहायता की और इसके लिए पुर्तगाली अधिकारी उनका आभार मानते थे। कभी-कभी पुर्तगाली राजा से ऐसे व्यापारियों को रियायत देने की भी सिफारिश की गई। ख्वाजा शमसुद्दीन गिलानी, जो बीजापुर राजदरबार से पद मुक्त होने के बाद कैन्नानौर में आकर बस गया था, वह पुर्तगालियों के लिए आवश्यक ऋण जुटाने में विशेष सहायक था।

कुछ स्थानीय राजाओं ने पुर्तगालियों की जमानत भी भरी, जब पुर्तगालियों के पास व्यापारियों से माल खरीदने के लिए पैसा नहीं होता था। उदाहरण के लिए, कोचीन के राजा ने इस प्रकार कई बार पुर्तगालियों के लिए ऋण पर माल उपलब्ध करवाकर सहायता की।

हिंद महासागर और अरब सागर में चलने वाले पुर्तगाली जहाज अस्त्र-शस्त्र से सजे होते थे। पुर्तगालियों से आज्ञा-पत्र (*cartaz*) लिए बिना अगर कोई जहाज सामान ढ़ोने की कोशिश करता था, तो उसे ज़ब्त कर लिया जाता था। इस प्रकार की लूट से भी काफी धन इकट्ठा होता था जिसे पुनः व्यापार में निवेशित किया जाता था। पुर्तगालियों ने पराजित राजाओं को नगद या वस्तु के रूप में नज़राना देने के लिए बाध्य किया। निवेश के लिए कई बार उनके द्वारा इस स्त्रोत का भी इस्तेमाल किया गया। भारत के किसी भाग में या एशिया के किसी देश में जहाज भेजने के लिए व्यक्तियों को पुर्तगालियों से आज्ञा-पत्र लेना होता था, जिसके लिए वे शुल्क वसूल करते थे। हालांकि यह अपने आप में नगण्य था, पर ऐसे जहाजों को भारत के बंदरगाहों पर बने पुर्तगाली सीमा शुल्क कार्यालय में हाजिरी देनी होती थी और कर अदा करना पड़ता था। यह पुर्तगालियों की आय का अन्य स्रोत था। इस प्रकार पुर्तगाली विभिन्न तरीकों से अपने व्यापार के लिए धन इकट्ठा किया करते थे।

13.4.3 भारत के साथ पुर्तगाली व्यापार की प्रकृति

कालीकट आगमन के समय से ही पुर्तगालियों ने विदेशी और भारतीय सभी व्यापारियों की हिस्सेदारी समाप्त करने और स्वयं के लिए व्यापार के एकाधिकार की मांग की। पुर्तगाली जहाज अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहा करते थे, दूसरे व्यापारियों को डरा धमका कर उनके जहाज और सामान जब्त कर लिया करते थे। 1501 तक पुर्तगाली राजा ने हिंद महासागर क्षेत्र में गौरवशाली उपाधि के साथ

अपने स्वामित्व की घोषणा कर दी। उसने इथोपिया, अरब, ईरान और भारत के जहाजरानी, वाणिज्य तथा विजयों के लॉर्ड की उपाधि ग्रहण की। 1502 में पुर्तगालियों ने कालीकट क्षेत्र से एकाधिकार व्यापार करने की मांग की जिसे कालीकट के ज़मोरिन राजा ने अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप वास्को डि गामा ने अरब सागर और हिंद महासागर में चलने वाले सभी जहाजों के खिलाफ युद्ध की घोंषणा कर दी। उसने एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार पुर्तगालियों से आज्ञा-प्राप्त जहाज पर कोई आक्रमण नहीं किया जाना था। यह प्रमाण-पत्र पहली बार 1502 में जारी किया गया।

समुद्री व्यापार में संलग्न सभी भारतीय व्यापारियों और शासकों को पुर्तगालियों से आज्ञा-पत्र लेना पड़ता था। इस प्रकार के आज्ञा-पत्र पर अंकित कर दिया जाता था कि यह जहाज काली मिर्च, घोड़े, अदरक, जहाज में प्रयोग होने वाली नारियल की रस्सी, शिपपिच (ship pitch) गंधक, सीसा, शोरा (saltpetre), दालचीनी, आदि नहीं लादेंगे। इन जहाजों के मार्गों और गंतव्य स्थान पर भी नियंत्रण लगाया गया। यह सभी पुर्तगालियों की एकाधिकार वस्तुएं थीं। अकबर और उसके उत्तराधिकारियों, अहमदनगर के निजामशाही शासक, बीजापुर के आदिलशाही शासक, कोचीन के राजा, कालीकट के ज़मोरिन शासकों और कैन्नानोर के राजाओं ने अपने जहाजों को विभिन्न जगहों पर भेजने के लिए ऐसे आज्ञा-पत्र पुर्तगालियों से खरीदे थे।

एकाधिकार व्यापार

15वीं शताब्दी के अंत तक विश्व के अनेक हिस्सों से व्यापारी वाणिज्य और व्यापार करने के लिए भारत के तटीय इलाकों में पहुंच चुके थे। 1498 में वास्कोडिगामा ने कालीकट के बंदरगाह पर मक्का, तेंन्नासेरी, पेगू, श्रीलंका, तुर्की, मिस्र, ईरान, इथोपिया, ट्यूनिस और भारत के विभिन्न क्षेत्रों के व्यापारियों की उपस्थिति का जिक्र किया है। यह सर्वविदित तथ्य है कि लाल सागर तथा चीन के व्यापारी भारतीय तटों पर अक्सर आया करते थे। ऐसी कोई सूचना नहीं मिलती है कि किसी व्यापारिक समूह ने कभी व्यापार के क्षेत्र में समग्र रूप से एकाधिकार की मांग की हो या किसी एक वस्तु या अनेक वस्तुओं के व्यापार के लिए अपना हक जताया हो। पर पुर्तगालियों के आगमन के बाद यह स्थिति बिल्कुल बदल गई। राजाओं पर दबाव डाला गया कि वे दूसरे व्यापारियों को उनके बंदरगाह पर व्यापार करने से रोकें। इसी प्रकार कुछ वस्तु विशेष का व्यापार पुर्तगाली व्यापारियों के अलावा अन्य व्यापारियों के लिए वर्जित कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, पुर्तगालियों ने व्यापार पर एकाधिकार की मांग की। भारतीय राजाओं के साथ हुई संधियों में इसका विशेष रूप से उल्लेख कर किया जाता था। एशियाई समुद्र क्षेत्र में अपने एकाधिकार को स्थापित करने के लिए पुर्तगालियों ने सामरिक महत्व के स्थानों पर किले बनाए, अपने जहाजों से आने वाले जहाजों पर निगरानी रखी और दूसरे जहाजों को आज्ञा-पत्र लेने के लिए दबाव डाला।

भारतीय शासकों और व्यापारियों का व्यापार

पुर्तगालियों द्वारा व्यापार पर पूर्ण एकाधिकार स्थापित करने के प्रयत्न के बावजूद भारतीय शासक और व्यापारी व्यापार में भाग लेते रहे। उदाहरण के लिए, कैन्नानोर का राजा पुर्तगालियों से आज्ञा-पत्र लेकर सामान से भरा अपना जहाज कैम्बे और होर्मुज भेजा करता था। पुर्तगालियों का घोड़ों पर एकाधिकार होने के बावजूद वह इन स्थानों से घोड़े मंगवाया करता था। कभी-कभी इन जहाजों पर पुर्तगालियों द्वारा कब्जा किए जाने का भी खतरा होता था। मालाबार तट पर स्थित तानूर, चाले और कालीकट के राजाओं के साथ भी यही बात थी। पुर्तगालियों के एकाधिकार के बावजूद गुजरात के कुलीन वर्ग अपना व्यापार करते रहे। व्यापार में रुचि रखने वाले मलिक गोपी, मलिक अयाज़, ख्वाजा सोफर जैसे कुलीन अपने जहाजों के लिए कभी आज्ञा-पत्र लेते थे, कभी नहीं लेते थे।

इसके अलावा भारत में बसे स्थानीय और विदेशी व्यापारी भी कभी आज्ञा-पत्र लेते थे, कभी नहीं लेते थे। यह अनुमान लगाया गया है कि कालीकट और कन्याकुमारी (Cape Comorin) के बीच के इलाके में प्रतिवर्ष 60,000 क्विंटन काली मिर्च उगाई जाती थी। इसमें से केवल 15,000 क्विंटल पुर्तगाली फैक्ट्रियों को सुपुर्द किया गया जबकि तीन चौथाई माल अन्य बंदरगाहों पर ले जाया गया। इसे पुर्तगालियों ने अवैध व्यापार बताया। पुर्तगाली कई दशक बीत जाने के बाद भी 1503 में तय किए काली मिर्च के मूल्य में बढ़ोतरी नहीं करना चाहते थे। अतः अब काली मिर्च

के उत्पादकों के पास अन्य कोई चारा नहीं रह गया और वे दूसरों को अपना माल बेचने लगे। यह व्यापारी पुर्तगालियों की निगाह से बचाकर माल दूसरे व्यापारिक स्थलों पर भेज दिया करते थे। इसके अलावा अपनी सरकार की निगाह बचाकर कई पुर्तगाली अधिकारी कई वस्तुओं का व्यापार करते थे। वस्तुतः लाल सागर क्षेत्र में पुर्तगाली एकाधिकार में कोई खास दम नहीं था।

व्यापार और उत्पादन

16वीं शताब्दी के दौरान एशिया और खासकर भारत से होने वाले समुद्री व्यापार में व्यापारियों को काफी लंबी दूरी तय करनी पड़ती थी। एक छोर पर एशिया के बंदरगाह थे और दूसरे छोर पर अटलांटिक महासागर के बंदरगाह थे। भारत से निर्यातित वस्तुएं यूरोप के विभिन्न हिस्सों में पहुंचाई जाती थी। जैसा कि ऊपर व्याख्या की गई है इस काल का व्यापार केवल 'फेरी व्यापार' ('peddling trade') तक ही सीमित नहीं था, बल्कि यह उससे अलग था, इसके कई आयाम थे।

काली मिर्च की भारी मांग को देखते हुए उत्पादकों ने इसका उत्पादन बढ़ा दिया। यह गणना की गई है कि 1515-1607 के बीच मालाबार क्षेत्र में काली मिर्च का उत्पादन 200 से 275 प्रतिशत तक बढ़ गया था। पुर्तगालियों के आगमन के पहले के उत्पादन का कोई लेखा-जोखा प्राप्त नहीं है। अतः यह बताना या तुलना करना कठिन है कि काली मिर्च के उत्पादन में वस्तुतः कितनी बढ़ोतरी हुई। परंतु यह बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है कि पुर्तगालियों के आगमन के बाद काली मिर्च के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। परंतु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि मुगल साम्राज्य में आंतरिक मांग और सफवी साम्राज्य में काली मिर्च की बाह्य मांग से भी भारत में इसके उत्पादन में बढ़ोतरी हुई होगी।

13.5 भारतीय शासक और यूरोपीय कंपनियाँ

यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उदय से यूरोप की 'एकीकृत एकल अर्थव्यवस्था' टूट गई। इसके साथ-साथ यूरोप में कृषि और औद्योगिक क्रांतियों का आगमन हुआ। वाणिज्यवाद ने भी अपनी भूमिका निभाई। इन सब कारणों से नए बाजार की खोज की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। घरेलू बाजारों में माल की खपत की एक सीमा थी और खपत बढ़ाने के लिए विदेशी बाजार ही एकमात्र सहारा था। हालांकि आप पढ़ चुके हैं कि पूर्वी समुद्र पर वेनिस और जेनेवा के व्यापारियों का व्यापारिक एकाधिकार था। यूरोपीय व्यापारी उनके एकाधिकार को तोड़ने की जोरदार कोशिश कर रहे थे, अतः पूर्व की ओर वैकल्पिक मार्ग ढूंढने का भी प्रयत्न किया जा रहा था। जहाज निर्माण और जलमार्गीय तकनीकों में अभूतपूर्व प्रगति के कारण यह संभव हुआ। इस प्रयास के कारण अंततः आशा अंतरीप के रास्ते पूर्व की ओर समुद्री रास्ता खोज निकाला गया। इससे समुद्र पर यूरोपीय देशों का एकाधिकार स्थापित हुआ – पहले पुर्तगाली हावी रहे और बाद में अन्य यूरोपीय शक्तियों (इंग्लिश, डच और फ्रांसीसी) ने अपना वर्चस्व कायम किया। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत इन यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के युद्ध का अखाड़ा बन गया। पुर्तगालियों, डच, इंग्लिश और फ्रांसीसियों के अतिरिक्त कुछ अन्य यूरोपीय राष्ट्र भी पूर्वी व्यापार में रुचि लेते थे। परंतु उनकी व्यापारिक गतिविधियां सीमित थीं। इस भाग में यूरोपीय कंपनियों और भारतीय राजाओं के बीच हुए सशस्त्र संघर्षों का विवरण नहीं प्रस्तुत किया गया है। पिछले भाग के विपरीत, जहां आपने भारत के साथ पुर्तगाली व्यापार की प्रकृति के बारे में विस्तार से पढ़ा था, इस भाग में हम यूरोपी व्यापारियों और भारतीय शासन के बीच के रिश्ते पर प्रकाश डालेंगे जिनका इस समय हिंद महासागर व्यापार में आगमन हुआ था।

मुगल और भारतीय शासक भारत के विदेशी व्यापार का विकास करना चाहते थे ताकि उनका राजस्व स्रोत बढ़ सके। अतः सभी प्रकार की दिक्कतों के बावजूद मुगल बादशाहों और स्थानीय भारतीय शासकों ने विदेशी व्यापारियों का स्वागत किया। परंतु मुगल और अन्य भारतीय राजाओं की समुद्र पर पकड़ मजबूत नहीं थी। समुद्र में भारतीय जहाजों की सुरक्षा के लिए उन्हें किसी न किसी यूरोपीय ताकत से समझौता करना जरूरी था क्योंकि समुद्र पर उनकी शक्ति बहुत अधिक थी। आप पायेंगे कि जब तक मुगल शासक मजबूत रहे तब तक यूरोपीय व्यापारियों ने याचिकाओं और पुरस्कारों का सहारा लिया। कंपनियों ने व्यापार और कूटनीति के साथ-साथ युद्ध किया और अपने कारखाने (Factory) वाले क्षेत्रों पर अधिकार की नीति अपनाई। मुगल सत्ता के

कमजोर पड़ते ही यह यूरोपीय कंपनियां एकाधिकार और रियायतें प्राप्त करने के लिए भारतीय राजाओं पर दबाव डालने लगीं। उन्होंने यहां की आंतरिक कलह का भी भरपूर लाभ उठाया।

डच

1602 में एक चार्टर द्वारा डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना की गई। इसलिए उन्होंने सुदूरपूर्व में अपना ध्यान ज़्यादा केन्द्रित किया। उनके लिए भारत एक व्यापारिक डिपो मात्र था। डचों ने 1606 में अपनी पहली फैक्ट्री उतरी कोरोमंडल में पेटापूली में स्थापित की, इसी वर्ष उन्होंने मसूलीपट्टम में अपनी दूसरी फैक्ट्री खोली। उन्होंने पूलिकट (1610), कैम्बे (1620), सूरत और आगरा (1621), हरिहरपुर (1633), पटना (1638), ढाका (1650), उदयगंज (1651), चिनसूरा (1653), कासिमबाज़ार, बड़ानगर, बालासोर तथा नेगापट्टम (1659-1660) में अपनी फैक्ट्रियां स्थापित कीं।

डचों के प्रति गोलकुंडा शासकों का रुख सकारात्मक रहा। उन्होंने आयात और निर्यात पर 4 प्रतिशत सीमा शुल्क लगाकर डचों को व्यापार करने की इजाजत दे दी। कंपनी को कपड़े पर लगाए गए कर पर भी छूट मिली (यह लगभग 12 प्रतिशत थी)। 1612 में 4 प्रतिशत शुल्क को प्रतिवर्ष 3000 पगोडा की एकमुश्त रकम में परिवर्तित कर दिया गया।

भारतीय राजाओं के साथ कंपनियों के संबंध का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि भारतीय शासकों द्वारा रियायतें प्रदान किए जाने के बावजूद स्थानीय अधिकारी लगातार इन आदेशों का उल्लंघन करते थे। यह अधिकारी कंपनी के व्यापार पर कर लगाने का प्रयत्न किया करते थे। इससे कंपनी और स्थानीय अधिकारियों में अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी। स्थानीय *हवलदार* की मनमानी मांगों से तंग आकर डचों ने 1616 में पेटापूली स्थित अपनी फैक्ट्री बंद कर दी। 1619 में डच अपना मसूलीपट्टम स्थित फैक्ट्री भी बंद करने वाले थे तभी गोलकुंडा के शासक ने हस्तक्षेप किया और स्थानीय *हवलदार* मीर कासिम को हटा दिया। 1636 में स्थानीय अधिकारियों द्वारा तंग किए जाने और स्थानीय व्यापारियों की प्रतिद्वंद्विता आदि के कारण डचों को हुगली स्थित फैक्ट्री को छोड़ देना पड़ा (बाद में 1645 से 50 में यह फैक्ट्री फिर खोली गई)। 3000 पगोड़ा अदा करने पर उन्हें मसूलीपट्टम में सीमा शुल्क की छूट दे दी गई। 1657 में उन्होंने गोलकुंडा के राजा से पूलिकट टकसाल में सिक्का ढलवाने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्होंने 5.38 प्रतिशत टकसाल कर वसूल किया। 1676 के *फरमान* द्वारा गोलकुंडा शासक ने डचों को गोलकुंडा में कर से पूरी तरह मुक्त कर दिया।

गोलकुंडा के मंत्री अकन्ना से अनबन होने के कारण 1680 के दशक में उन्होंने गोलकुंडा के विरुद्ध अस्त्र उठा लिए। 1686 में उन्होंने मसूलीपट्टम बंदरगाह पर कब्जा कर लिया। यह कब्जा दो महीने तक कायम रहा। अन्ततः गोलकुंडा को संधि करनी पड़ी और गोलकुंडा शासक ने डचों को उनके सभी विशेषाधिकार लौटाने का वादा किया।

1690 में तंजौर के नायक ने अपने राज्य में डचों को आधा कर भुगतान करने की छूट दे दी। उन्होंने तंजौर के बन्दरगाह से अन्य यूरोपियों को बाहर रखने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्हें नागापट्टम में सिक्का ढालने का भी अधिकार मिल गया। बीजापुर के शासक ने भी 1651 में जिंजी के नायक द्वारा प्रदत्त विशेषाधिकारों को अपनी स्वीकृति दे दी।

पश्चिमी तट पर व्यापार करने के लिए डच मुगल सम्राट जहांगीर से *फरमान* प्राप्त करने में सफल रहे। उन्हें बुरहानपुर से खंभात और अहमदाबाद तक कर देने से मुक्ति मिल गई। शाहजहां ने भी उन्हें दो *फरमान* प्रदान किए जिनके अनुसार उन्हें बंगाल (1635) और सूरत में व्यापार करने की अनुमति मिल गई। 1638 में कंपनी को शोरा का व्यापार करने के लिए शाहजहां के *फरमान* द्वारा अनुमति प्रदान कर दी गई। 1642 में शाहजहां ने डचों को पीपली-आगरा मार्ग पर पारगमन शुल्क से मुक्त कर दिया। 1662 में औरंगजेब ने शाहजहां द्वारा बंगाल में डचों को दिए गए सभी विशेषाधिकारों को स्वीकृति दे दी। मुगलों ने कुछ समय के लिए गोलकुंडा पर कब्जा कर लिया था, इसी दौरान 1689 में औरंगजेब ने एक *फरमान* जारी कर गोलकुंडा में डचों के विशेषाधिकारों को स्वीकृति दे दी।

शाह आलम (1709) ने सूरत और हुगली में सीमा शुल्क को साढ़े तीन प्रतिशत से घटाकर ढाई प्रतिशत कर दिया। उसने कंपनी को पूरे मुगल साम्राज्य में पारगमन शुल्क से पूरी तरह मुक्त कर दिया। परंतु स्थानीय अधिकारियों की रुकावटों के कारण कभी-कभी डच फैक्टर (factor)

राहदारी कर से मुक्ति नहीं पाते थे। इसी प्रकार स्थानीय अधिकारियों को खुश करने के लिए उन्हें काफी राशि भी खर्च करनी पड़ती थी। परंतु कंपनी अक्सर कर मुक्त वस्तुओं को ढोने के अपने विशेषाधिकार का उल्लंघन करती थी। वे हुगली में अपना माल ढोने के बदले भारतीय व्यापारियों का माल अपने नाम बिना कर दिए ही निकाल देते थे। 1712 में जहांदार शाह ने औरंगजेब द्वारा कोरोमंडल तट पर दिए गए सभी विशेषाधिकारों को मंजूरी दे दी। इसके बावजूद स्थानीय अधिकारी जहांदार शाह द्वारा दिए विशेषाधिकार को समर्पित करने के लिए तैयार नहीं थे। 1725 से 1730 पालकोट्टू और द्रक्श्वरम् में स्थानीय अधिकारियों और डचों के मध्य जमकर लड़ाई हुई, और 1728 में डच फैक्ट्री पर आक्रमण कर उसे लूट लिया गया।

इंग्लिश

1599 में पूर्व के साथ व्यापार करने के लिए 'इंग्लिश एसोसिएशन ऑफ द मर्चेन्ट एडवेन्चरर्स' नामक संगठन बनाया गया। इस कंपनी (ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से प्रसिद्ध) को 31 सितंबर 1600 को रानी एलिज़ाबेथ ने पूर्व में एकाधिकार व्यापार का राजकीय चार्टर प्रदान किया। 1608 में अंग्रेज व्यापारियों ने सूरत में अपनी 'पहली' फैक्ट्री लगाने का निर्णय लिया। 1619 तक उन्होंने आगरा, अहमदाबाद और भड़ौंच में अपनी फैक्ट्रियां स्थापित कर लीं।

अंग्रेज़ों ने दक्षिण में अपनी पहली फैक्ट्री 1611 में मसूलीपट्टम में लगाई। दूसरी फैक्ट्री 1626 में आरामगांव में लगाई। 1639 में उन्होंने राजा से मद्रास पट्टे पर ले लिया। जल्द ही उन्होंने इसकी किलेबंदी कर दी जिसे फोर्ट सेंट जॉर्ज के नाम से जाना गया। 1688 में उन्होंने बम्बई द्वीप पर कब्ज़ा जमा लिया और जल्दी ही वहां भी किलेबंदी कर ली। शीघ्र ही (1687 तक) सूरत के स्थान पर यह कंपनी के पश्चिमी तट का मुख्यालय बन गया।

पूर्व में उड़ीसा में 1633 में हरिहरपुर और बालासोर में पहली फैक्ट्री लगाई गई। 1651 में उन्हें हुगली में व्यापार करने की अनुमति मिली। जल्द ही उन्होंने पटना (बिहार) और कासिमबाज़ार (बंगाल) में भी अपनी फैक्ट्रियां खोल लीं। 1690 में सूत्तनती में फैक्ट्री खोली गई जिसे 1696 में किलेबंद कर दिया गया। 1698 में अंग्रेज़ों को सूत्तनती, कालिकता और गोविंदपुर की *जमींदारी* मिल गई जहां उन्होंने फोर्ट विलियम नामक किले का निर्माण किया। जल्द ही यह एक बड़े शहर के रूप में परिवर्तित हो गया और कलकत्ता के नाम से जाना गया।

जहांगीर के शासनकाल में पहली बार मुगल दरबार में अंग्रेजी दूत आया था और उसे 1607 में राजकीय *फरमान* प्रदान किया गया। 1608 में अंग्रेजों ने सूरत में फैक्ट्री लगाई और उसी वर्ष कैप्टन हॉकिंस को मुगल दरबार में व्यापारिक रियायतें प्राप्त करने के लिए भेजा गया। आरंभ में जहांगीर ने अंग्रेजी दूत का स्वागत किया और सम्राट ने उसे 400 *जात* का *मनसब* प्रदान किया। हालांकि 1611 में हॉकिंस को सूरत में व्यापार करने की अनुमति मिल गई परंतु बाद में पुर्तगालियों के प्रभाव के कारण उसे आगरा से बाहर निकाल दिया गया। अंग्रेजों ने यह महसूस किया कि अगर वे मुगल शासकों से रियायतें प्राप्त करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम उन्हें पुर्तगालियों के प्रभाव को कम करना पड़ेगा। इसके कारण सूरत के निकट स्वैली में दोनों के बीच सशस्त्र संघर्ष हुआ (1612, 1614)। इसका आशाजनक परिणाम निकला। मुगल पुर्तगालियों की नौ सेना का मुकाबला करने के लिए अंग्रेजों की सहायता चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी चाहते थे कि विदेशी व्यापारियों की प्रतिद्वंद्विता से भारतीय व्यापारियों को अधिक से अधिक मुनाफा हो। शीघ्र ही पश्चिमी तट पर सूरत के खंभात, अहमदाबाद और गोवा में फैक्ट्रियां खोलने के लिए कैप्टन बेस्ट मुगलों से एक राजकीय *फरमान* प्राप्त करने में सफल रहा।

1615 में सर टामस रो को जहांगीर के दरबार में भेजा गया। उसने भारतीय शासकों की नौसेना संबंधी कमजोरियों का लाभ उठाने की कोशिश की। उन्होंने भारतीय व्यापारियों और उनके जहाजों को परेशान करना शुरू किया। इस दबाव के परिणामस्वरूप एक *फरमान* जारी कर अंग्रेजों को मुगल साम्राज्य के सभी भागों में फैक्ट्रियां खोलने का अधिकार प्राप्त हो गया। अंग्रेजों की इस सफलता के बाद 1620 से 1630 के बीच अंग्रेज और पुर्तगालियों के बीच कई संघर्ष हुए जिसमें अंग्रेजों की जीत हुई। इसके बाद गोवा, दमन और दीव को छोडकर धीरे-धीरे पुर्तगालियों का अन्य भारतीय क्षेत्रों पर प्रभुत्व समाप्त हो गया। 1662 में उन्होंने बम्बई का द्वीप इंगलैंड के चार्ल्स द्वितीय को दहेज स्वरूप दे दिया।

जहांगीर के शासनकाल के अंतिम दिनों में इंग्लिश कंपनी ने सूरत स्थित अपनी फैक्ट्री की किलाबंदी करने का प्रयत्न किया, परंतु मुगल अधिकारियों ने उन्हें बंदी बना लिया। जब कंपनी के प्रतिद्वंदी अंग्रेज व्यापारियों ने मुगल जहाजों पर आक्रमण किया तब मुगलों ने सूरत स्थित कंपनी के अध्यक्ष को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें 1,80,000 पांउड का भुगतान करने पर ही मुक्त किया गया।

1651 में इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी को शाहजहां के पुत्र और उस समय बंगाल के गवर्नर सुल्तान शुजा ने *निशान* प्रदान किया। इसके द्वारा उन्हें 3000 रुपये प्रतिवर्ष का निश्चित भुगतान करने की शर्त पर व्यापारिक विशेषाधिकार प्रदान किए गए। 1656 में प्राप्त एक अन्य *निशान* द्वारा इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी को सीमा शुल्क से छूट मिल गई परंतु बंगाल से शुजा की वापसी के बाद उसके उत्तराधिकारी ने शुजा के आदेश को नजरअंदाज कर दिया क्योंकि इससे राजकीय कोष पर असर पड़ रहा था। लेकिन बाद में शाइस्ता खां (1672) और सम्राट औरंगजेब के *फरमान* ने अंततः अंग्रेजों को सीमा शुल्क से मुक्त कर दिया।

औरंगजेब के शासनकाल में मुगल-अंग्रेज संबंधों में कुछ परिवर्तन नजर आता है। इस समय तक इंग्लिश कंपनी ने मद्रास और बम्बई स्थित अपने क्षेत्रों की किलाबंदी कर ली थी और वे अपनी स्थिति मजबूत समझने लगे थे। औरंगजेब खुद भी दक्खनी अभियानों में व्यस्त था। ऐसी स्थिति में अंग्रेज विनयपूर्वक याचिका देने की नीति को छोड़ने की बात सोच सकते थे। शक्ति का इस्तेमाल करके मूल्य निर्धारित कर सकते थे और व्यापार पर एकाधिकार हासिल कर सकते थे। वे धीरे-धीरे सभी यूरोपीय शक्तियों को प्रतिद्वंद्विता से हटाकर व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते थे।

1686 में अंग्रेजों ने मुगल सम्राट के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया और हुगली को लूटा। परंतु यहां मुगल शक्ति को आंकने में उनसे भारी भूल हो गई। दक्षिण भारत के शासकों की तुलना में मुगल सम्राट की शक्ति काफी मजबूत थी और एक छोटी व्यापारिक कंपनी की मुगलों के सामने कोई बिसात नहीं थी। अतः कंपनी को बुरी तरह अपमानित होना पड़ा। उन्हें बंगाल स्थित सभी फैक्ट्रियों को छोड़ना पड़ा। सूरत, मसूलीपट्टम और विशाखापट्टम स्थित उनकी फैक्ट्रियों पर तथा बम्बई स्थित उनके किले पर मुगलों ने कब्जा कर लिया।

मुगलों की शक्ति का अंदाज लगते ही वे पुनः 'याचिका और कूटनीति' की अपनी पुरानी नीति पर लौट गए। वे पुनः 'विनयपूर्वक याचिका' के लिए अनुरोध करने लगे और भारतीय शासकों के संरक्षण में व्यापार करने को सहमत हुए।

विदेशी व्यापार के बढ़ते लाभ को देखते हुए मुगलों ने उन्हें माफ कर दिया। 1,50,000 रुपयों का मुआवजा लेकर औरंगजेब ने उन्हें व्यापार करने की अनुमति दे दी। 1691 में 3000 रुपये वार्षिक शुल्क देकर इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल में सीमा शुल्क से मुक्ति पा ली। व्यापारिक रियासत की वैध अनुमति लेने और अंग्रेजी बस्तियों में पूर्ण अंग्रेजी शासन का अधिकार प्राप्त करने के लिए 1698 में इंग्लैंड के राजा ने सर विलियम नोरिस को औरंगजेब के दरबार में भेजा। 1714-1717 में सरमन के नेतृत्व में दूसरा प्रतिनिधिमंडल भेजा गया जो फरुखसियर से तीन *फरमान* प्राप्त करने में सफल रहा। इसके द्वारा उन्हें गुजरात के साथ-साथ दक्खन में भी सीमा शुल्क देने से मुक्ति मिल गई। जब तक मुर्शिद कुली खां और अली वर्दी खान का बंगाल पर शासन रहा तब तक वे कंपनी द्वारा विशेषाधिकारों के दुरुपयोग पर कड़ाई से नियंत्रण लगाते रहे। परंतु उनके हटने (1750 का दशक) के बाद अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया और जल्द ही 1757 में प्लासी के युद्ध में उन्हें बंगाल के नवाब को परास्त करने में सफलता प्राप्त हुई।

गोलकुंडा के शासकों का भी इंग्लिश कंपनी के साथ महत्वपूर्ण संबंध था। 1632 में गोलकुंडा के शासक ने *फरमान* जारी कर गोलकुंडा के बंदरगाहों पर अंग्रेजों को मुक्त रूप से व्यापार करने की छूट दे दी। इसके बदले में उन्हें 500 पगोड़ा देना था, इसके बाद वे निबाध रूप से वस्तुओं का व्यापार कर सकते थे। इससे निश्चित रूप से कोरोमंडल क्षेत्र में अंग्रेजों के व्यापार में अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला।

फ्रांसीसी

फ्रांसीसियों ने पूर्वी व्यापार में देर से प्रवेश किया। फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1664 में हुई। पहली फ्रांसीसी फैक्ट्री 1668 में सूरत में स्थापित हुई। 1669 में फ्रांसीसियों ने मसूलीपट्टम में अपनी दूसरी फैक्ट्री लगाई। 1673 में उन्हें पांडिचेरी प्राप्त करने में सफलता मिल गई और 1674 में बंगाल के नवाब ने उन्हें कलकत्ता के निकट एक स्थान आवंटित कर दिया जहां उन्होंने 1690-1692 में चंद्रनगर नामक शहर बनाया।

फ्रांसीसियों को 1677 में मराठों (शिवाजी) का प्रकोप झेलना पड़ा था। फ्रांसीसी कमांडर (बाद में भारत में फ्रांसीसी मामलों का महानिदेशक) मार्टिन ने शिवाजी की सत्ता स्वीकार कर ली और उनके क्षेत्र में व्यापार करने की छूट देने के बदले एक निश्चित राशि अदा करने के लिए सहमत हुआ। शिवाजी ने फ्रांसीसी निवेदन इस शर्त पर स्वीकार किया कि वे उसके खिलाफ होने वाले सैनिक अभियानों में शामिल नहीं होंगे। 1689 में शंभाजी ने फ्रांसीसियों को पांडिचेरी की किलेबंदी करने की अनुमति दे दी। 1667 में फ्रांसीसियों ने औरंगजेब से *फरमान* प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की और उन्होंने सूरत में अपनी फैक्ट्री लगाई। 1688 में मुगल सम्राट औरंगजेब ने फ्रांसीसियों को चंद्रनगर गांव दे दिया। कर्नाटक के नवाब दोस्त अली के साथ भी फ्रांसीसियों के अच्छे संबंध थे। उसकी जोरदार अनुशंसा के आधार पर ही मुगल सम्राट मुहम्मद शाह ने एक *फरमान* जारी कर फ्रांसीसियों को सिक्का गढ़ने और सोने और चांदी की मुद्रा जारी करने का अधिकार दे दिया। यह अधिकार इस शर्त पर दिया गया कि इन मुद्राओं पर एक तरफ मुगल बादशाह तथा दूसरी तरह टकसाल के स्थान का नाम अंकित होना चाहिए।

दक्षिण की राजनैतिक स्थिति में हुए परिवर्तन के कारण फ्रांसीसियों को भारतीय शासकों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। 1738 में वेन्कोजी के पोते बाबा साहब की मृत्यु के बाद तंजोर में गृह युद्ध छिड़ गया। गद्दी के एक दावेदार साहूजी ने फ्रांसीसी गवर्नर एम. ड्यूमा से सहायता मांगी। इसके बदले उसने फ्रांसीसियों को करिकल और किरकनगढ़ी देने का वादा किया। परंतु शाहूजी ने अपने वादे पर अमल नहीं किया और इससे चांदा साहब (कर्नाटक के नवाब दोस्त अली का दामाद) को मौका मिला और उसने शीघ्र फ्रांसीसी गवर्नर के पास जाकर करिकल और किरकनगढ़ी देने का वादा किया बशर्ते वे उसे तंजोर के इलाकों पर अधिकार करने में उसकी मदद करें। परंतु जल्दी ही चांदा साहब को मराठों के प्रकोप का सामना करना पड़ा और वह फ्रांसीसी सहायता प्राप्त करने के लिए मजबूर हुआ। मराठों से सफलतापूर्वक टक्कर लेने की बात सुनते ही मुहम्मद शाह ने फ्रांसीसी गवर्नर एम. ड्यूमा को नबाव की पदवी प्रदान की और 4500 *जात* और 2000 *सवार* का *मनसब* प्रदान किया। दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप के परिणामस्वरुप कर्नाटक के युद्ध (1746-1748; 1749-1754; 1758-1763) हुए जिसमें फ्रांसीसियों की हार हुई।

बोध प्रश्न-3

1) हिंद महासागरीय व्यापार में पुर्तगालियों द्वारा आयात व निर्यात की मुख्य वस्तुओं की सूची तैयार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) भारत के साथ पुर्तगालियों के व्यापार में विदेशी पूंजी निवेश की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) भारत के साथ पुर्तगाली व्यापार की प्रकृति का परीक्षण कीजिए, खासकर पुर्तगाली एकाधिकार व्यापार के संदर्भ में।

.....

.....

.....

.....

4) यूरोपी व्यापारियों द्वारा पूर्व की ओर वैकल्पिक मार्ग ढूंढने के ऐतिहासिक संदर्भ का विवरण कीजिए। उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

13.6 सारांश

इस इकाई में हमने समुद्री मार्ग से होने वाली व्यापारिक गतिविधियों की प्रकृति पर विचार विमर्श किया है। भारत के व्यापारिक संबंध दूर-दूर तक दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों और पश्चिम एशिया के विभिन्न भागों के साथ थे। परंतु यूरोपीय देशों, खासकर अटलांटिक सागर पर बसे देशों, के साथ सीधा समुद्री व्यापार नहीं होता था। 1510 में गोवा पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद पुर्तगाली भारतीय समुद्र में प्रमुख नौ शक्ति के रूप में उभरे।

वास्कोडिगामा की प्रारंभिक सफलताओं के बाद पुर्तगालियों ने एशिया और खासकर भारत की वाणिज्यिक क्षमताओं का भरपूर उपयोग करने के लिए योजनाबद्ध ढंग से प्रयास किए। स्थानीय शासकों ने व्यापार और वाणिज्य के विकास के लिए उन्हें फैक्ट्रियों और अन्य सुविधाओं की स्थापना की अनुमति दे दी। कहीं-कहीं किले भी बनाए गए।

इस इकाई को पढ़कर आप समझ गए होंगे कि पुर्तगालियों के आने के बाद किस प्रकार एशिया और खासकर भारत के व्यापार जगत में परिवर्तन आया। अब तक समुद्री व्यापार सबके लिए खुला था, परंतु अब पुर्तगालियों ने एकाधिकार की मांग की और अपने एकाधिकार की रक्षा के लिए फैक्ट्रियां और किले स्थापित किए। पुर्तगालियों ने अन्य व्यापारियों के जहाजों के लिए आज्ञा-पत्र लेना अनिवार्य कर दिया अन्यथा वे उनका जहाज जब्त कर लेते थे। 16वीं शताब्दी के पहले ऐसा कभी ना सुना ना देखा गया था। भारत के तटीय प्रदेशों में अपने को स्थापित करने के बाद मसाले के व्यापार से पुर्तगालियों ने खूब मुनाफा कमाया। अंतरराष्ट्रीय व्यापार के इतिहास में पहली बार भारतीय राजाओं के साथ वाणिज्यिक संधियां की गईं। मांग को देखते हुए नगदी फसलों, खासकर मसालों का उत्पादन तेजी से बढ़ा। इस बात पर गौर करना चाहिए कि कृषि शुद्ध रूप से बाजारोंमुख थी और इसका रुख अंतरराष्ट्रीय व्यापार के अनुकूल था।

आशा अंतरीप मार्ग के जरिए नए समुद्री मार्ग का पता लगाते ही पूर्वी व्यापार का द्वार सभी यूरोपीय राष्ट्रों के लिए खुल गया। इस दौरान अफ्रीका और एशिया में पुर्तगालियों, डच, इंग्लिश और फ्रांसीसी व्यापारिक कंपनियों ने अपनी फैक्ट्रियां लगाईं। यूरोपीय कंपनियां भारतीय शासकों से ज्यादा से ज्यादा रियासत प्राप्त करना चाहती थीं।

13.7 शब्दावली

बहर अल-हिंद	अरबी में हिंद महासागर
बोहरा	गुजरात का मुस्लिम व्यापारी समुदाय
कार्टाज़ (*cartaz*)	यह एशियाई समुद्र में जहाजों के आने-जाने के लिए पुर्तगालियों द्वारा जारी किया गया एक प्रकार का आज्ञा-पत्र था। इसके न होने पर माल लूटकर जहाज जब्त किया जा सकता था

भारत का पूर्वी तट	यह बंगाल से लेकर कोरोमंडल तक फैला हुआ था, परंतु इसमें माबार बंदरगाह शामिल थे जो कि दक्षिण-पूर्वी एशिया और चीन से मिला हुआ था
भारत का पश्चिमी तट	यह सिंध से मालाबार तक फैला हुआ था, जो फारस की खाड़ी, लाल सागर और पूर्वी अफ्रीका से जुड़ा हुआ था

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 13.2.1

2) देखें उप-भाग 13.2.2

3) देखें भाग 13.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 13.3.1

2) देखें उप-भाग 13.3.2

3) देखें भाग 13.3

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 13.4.1

2. देखें उप-भाग 13.4.2

3. देखें उप-भाग 13.4.3

4. देखें भाग 13.5

13.9 संदर्भ ग्रंथ

चौधरी, के. एन., (1990) *एशिया बिफोर यूरोपः इकॉनमी एंड सिविलाइजेशन ऑफ इंडियन ओशन फ्रॉम द राइज ऑफ इस्लाम टू 1750* (कैंब्रिजः कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

हैदर, नजफ, (2011) 'फॉरेन ट्रेड ऑफ इंडिया', *हिस्ट्री ऑफ साइंस, फिलासफी एंड कल्चर इन इंडियन सिविलाइजेशनः इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ मिडिवल इंडिया, 1200-1500,* खंड 8, भाग 1 (दिल्लीः पियरसन).

प्रकाश, ओम, (2011) (संपा.) *हिस्ट्री ऑफ साइंस, फिलासफी एंड कल्चर इन इंडियन सिविलाइजेशनः द ट्रेडिंग वर्ल्ड ऑफ द इंडियन ओशन,1500-1800,* खंड 3, भाग 7 (दिल्लीः पियरसन).

सिंह, एम. पी., (1985) *टाउन, मार्केट, मिंट एंड पोर्ट इन द मुगल एंपायर (1556-1707): एन एडमिनिस्ट्रेटिव कम इकोनॉमिक स्टडी* (नई दिल्लीः अदम पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स).

स्टाइन, बर्टन, (1985) *द न्यू कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग 1, *विजयनगर* (न्यूयॉर्कः कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

13.10 शैक्षणिक वीडियो

सोर्सेस फॉर द स्टडी ऑफ इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ मिडिवल इंडिया। विद्या-मित्र
https://www.youtube.com/watch?v=88XQIi_wKxE&list=PL_a1TI5CC9RHAweDRQ4pPwiQq4SWXZB1-&index=3

दिल्ली सल्तनतः इंडस्ट्री, ट्रेड एंड कॉमर्स। विद्या-मित्र
https://www.youtube.com/watch?v=TCbkw8Gl0Ag

फॉरेन ट्रेड इन मुगल इंडिया – पार्ट I। विद्या-मित्र
https://www.youtube.com/watch?v=rrjFb71sv7E

इंट्रोडक्शन ऑफ मैरिटाइम ट्रेड ऑफ इंडिया। विद्या-मित्र
https://www.youtube.com/watch?v=ApkfpQyTY_4&list=PL_a1TI5CC9RHAweDRQ4pPwiQq4SWXZB1-&index=32

मैरिटाइम कांटेक्ट्स ऑफ ईस्ट कोस्ट ऑफ इंडिया विद द रेड सी, द परशियन गल्फ। विद्या-मित्र
https://www.youtube.com/watch?v=jSa3HK11WMo&list=PL_a1TI5CC9RHAweDRQ4pPwiQq4SWXZB1-&index=33

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 14 तकनीकी, शिल्प उत्पादन और सामाजिक परिवर्तन*

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 कृषि तकनीकी

- 14.2.1 हल
- 14.2.2 बोआई
- 14.2.3 फसल-कटाई, गुहाई और ओसाई
- 14.2.4 सिंचाई के साधन

14.3 वस्त्र तकनीकी

- 14.3.1 ओटाई, धुनाई और कताई
- 14.3.2 बुनाई
- 14.3.3 रंगाई और छपाई

14.4 भवन निर्माण

- 14.4.1 चूना-गारा
- 14.4.2 मेहराब और गुंबद/मेहराबी छत

14.5 कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी

14.6 सैन्य तकनीकी

- 14.6.1 रकाब़
- 14.6.2 नाल
- 14.6.3 बारूद और अग्नि-शस्त्र

14.7 कलई

14.8 काँच निर्माण

14.9 जहाज़ निर्माण

14.10 आसवन

14.11 धातुशोध तकनीकी

14.12 मुद्रणालय

14.13 समय-मापन पद्धतियाँ

14.14 विविधा

14.15 सारांश

14.16 शब्दावली

14.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.18 संदर्भ ग्रंथ

14.19 शैक्षणिक वीडियो

*प्रो. ए. जान कैसर, सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडी इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ई.एच.आई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15वीं सदी तक*, खंड 6, इकाई 22 और ई.एच.आई-04: *भारतः 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य तक*, खंड 8, इकाई 32 से ली गई हैं।

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपका परिचय दिल्ली सल्तनत तथा मुगल कालीन प्रमुख शिल्पों और तकनीकियों से कराया जायेगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगेः

- कृषि तकनीकी,
- वस्त्र तकनीकी,
- भवन निर्माण कला,
- कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी,
- सैन्य तकनीकी,
- कलई,
- काँच निर्माण,
- जहाज़ निर्माण,
- आसवन तथा किणवन
- धातुशोधक तकनीकी,
- मुद्रणालय
- समय-मापन पद्धतियाँ, और
- तत्कालीन यूरोपीय विज्ञान और तकनीकी के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया पर भी विचार किया जायेगा।

14.1 प्रस्तावना

ऐसी कोई भी मानव सभ्यता नहीं हुई जिसमें उसमें रहने वालों ने अपने जीवन हेतु किसी न किसी तकनीक अथवा शिल्पकारी का प्रयोग न किया हो। वास्तव में, तकनीकी का इतिहास किसी भी तरह से राजनैतिक व आर्थिक अध्ययन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। तकनीकी किसी समाज की भौतिक संस्कृति का एक अविच्छेय हिस्सा है।

इस इकाई में हम आपको सल्तनत और मुगलकालीन तकनीकी के कुछ पहलुओं की जानकारी देंगे।

सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि अप्रवासी मुसलमानों द्वारा लाई गई तकनीकी के नये यंत्रों और नई शिल्प-कलाओं से भारतीय परिचित हुए जो इस्लामी संस्कृति-क्षेत्रों में उत्पन्न अथवा विकसित हुए थे। प्रस्तुत इकाई में सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोपवासियों द्वारा लाई गई नई तकनीकों पर भी ध्यान केन्द्रित किया जायेगा। अतएव हमारी कार्य-पद्धति यह रहेगी कि स्वदेशी हस्तकलाओं और तकनीकी को नयी आयातित तकनीकी और हस्तकलाओं के साथ रख उनका अध्ययन करें।

एक बात की ओर आपका ध्यान जाएगा, वह यह कि उस काल में औजार, यंत्र और उपकरण लकड़ी और मिट्टी के बने होते थे, जबकि अति आवश्यकता पड़ने पर ही लोहे का प्रयोग होता था। आवश्यकता पड़ने पर रस्सी, चमड़े और बाँस का भी प्रयोग किया जाता था। इसी कारण वे कम खर्चीले होते थे।

हमने यहां विभिन्न शिल्पकर्मियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले यंत्रों व औजारों का अध्ययन नहीं किया है। उदाहरण के तौर पर – हथौड़ा, आरी, बसूला, रन्दा, सूआ, कुल्हाड़ी, बरमा, गेंती, बेलचा, तोशा (छेनी) और सन्दान (anvil), इत्यादि।

हमने नमक और हीरों का खनन – जो प्रमुख उद्योगों में से थे, का उल्लेख भी नहीं किया है। नमक खारे समुद्र-जल के प्राकृतिक वाष्पीकरण द्वारा भी व्यवस्थित ढंग से इकट्ठा किया जाता था।

14.2 कृषि तकनीकी

इस खंड में हम कृषि संबंधित प्रमुख तकनीकी यन्त्रों का वर्णन करेंगे।

14.2.1 हल

कई सदियों पूर्व हल द्वारा फावड़ा या कुदाली का स्थान ले लिया गया था। सिंधु-घाटी की सभ्यता के एक केन्द्र कालीबंगा (राजस्थान) से प्राप्त पुरातत्वीय प्रमाण ''लौह-रहित'' हल के प्रचलन के लिए सुप्रसिद्ध है। यद्यपि इसमें संशय है कि यह मनुष्यों द्वारा या बैलों द्वारा चलाया जाता था। तथापि, वैदिक युग में बैलों युक्त हल-कृषि एक निर्विवाद सत्य है। लौह युग, जो गंगा के मैदानों में आर्यों के आवास के साथ पहचाना जाता है, ने हल के विकास में योगदान दिया। जहां पहले हल का सम्पूर्ण फ्रेम लकड़ी का बना होता था, अब लोहे का हल/फाल प्रयोग में लाया जाने लगा। लोहे के हल/फाल से अपेक्षाकृत कठोर भूमि की जुताई में बहुत सहायता मिली। मालवा में लगभग 1469 में संकलित एक फारसी शब्दकोश *मिफ़्ताह-उल फ़ुज़ला* में एक चित्र दो जुते हुए बैलों द्वारा एक लोहे के फाल युक्त हल को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। यूरोप की तरह, भारत में घोड़ों द्वारा चलाए जाने वाले पहियों युक्त हल का निर्माण इसलिए नहीं हुआ कि यहां का हल वज़न में हल्का था जो नरम मिट्टी के लिए उपयुक्त था।

चित्र 14.1: लोहे का फाल युक्त हल: *मिफ्ताह-उल फुज़ला*

14.2.2 बोआई

बोआई के लिए छिटका-बोआई प्रणाली अपनाई जाती थी। कंधों पर रखे हुए कपड़े के थैले में से बीजों को बाहर निकालकर उन्हें हाथों से ही इधर-उधर छिड़क दिया जाता था। भारत में बीज वपित्र (seed drill; बीज बोने की मशीन) के समय-निर्धारण को लेकर विवाद है: कुछ लोग इसका उद्गम वैदिक-काल में मानते हैं। कुछ भी हो, भारत के पश्चिमी तट के समानान्तर इसके प्रयोग का एकमात्र सकारात्मक प्रमाण एक पुर्तगाली – बारबोसा (लगभग 1510) द्वारा चावल की जल सिंचित-कृषि (wet-cultivation of rice) के संदर्भ में प्राप्त होता है।

14.2.3 फसल-कटाई, गुहाई और ओसाई

फसल की कटाई हंसिया द्वारा की जाती थी। गुहाई का कार्य बैलों द्वारा किया जाता था जो खलिहान में जई के ऊपर गोल-गोल चक्कर लगाते थे। ''पवन-शक्ति'' का उपयोग ओसाई के लिए भूसी को अन्न-कणों से अलग करने के लिए किया जाता था।

14.2.4 सिंचाई के साधन

खेतों की सिंचाई हेतु जल प्राप्त करने के कई साधन थे। वर्षा का पानी एक प्राकृतिक स्रोत था। यह जल तालाबों और कुण्डों में इकट्ठा हो जाता था जिसे सिंचाई हेतु प्रयोग में लाया जाता था। बाढ़ अथवा आप्लावन द्वारा बने नदी-नालों का भी इसी उद्देश्य से उपयोग किया जाता था। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण नियंत्रित साधन, विशेष तौर पर उत्तर-भारत में, कुओं का जल था। सिंचाई के साधनों का उद्देश्य कुओं से जल को बाहर निकालना था। ये कुएं अधिकतर पक्के (ईंट-पत्थरों के) होते थे जिनकी दीवारें ऊंची और उन्हें घेरता हुआ चबूतरा होता था। कच्चे कुएं भी थे लेकिन ये पानी निकालने हेतु बहुत टिकाऊ या मजबूत नहीं माने जाते थे।

मोटे तौर पर पानी को बाहर निकालने हेतु 5 साधन अथवा तकनीकें प्रचलित थीं:

i) सबसे सरल तरीका रस्सी और बाल्टी द्वारा हाथों से, बिना किसी यंत्र की सहायता के, पानी बाहर खींचना था। वास्तव में बाल्टी आकार में छोटी होती थी जिसके फलस्वरूप इस विधि द्वारा बड़े विस्तृत खेतों को पानी नहीं दिया जा सकता था। परन्तु, हम छोटे खेतों में फसलों को इस प्रणाली द्वारा सिंचित किए जाने की संभावना से इंकार नहीं कर सकते, विशेषतः सब्ज़ियों के लिए जिन्हें अधिक पानी की जरूरत नहीं रहती।

ii) दूसरी विधि चरखी अथवा घिर्री के प्रयोग द्वारा रस्सी-बाल्टी द्वारा हाथों से ही पानी बाहर निकालने की थी। निश्चय ही, चरखी के कारण मानव-ऊर्जा की आवश्यकता कम हो गयी और अपेक्षाकृत बड़े आकार के थैले या बड़ी बाल्टियां रस्से से बांधी जा सकती थीं। इसका उपयोग घरेलू कार्यों के लिए भी विशेषतः महिलाओं द्वारा किया जाता था।

चित्र 14.2: चरखी के प्रयोग द्वारा पानी बाहर निकालने की विधि

iii) रस्सी-बाल्टी-चरखी प्रणाली की एक उन्नत विधि में मानव शक्ति के स्थान पर बैलों की एक जोड़ी का प्रयोग किया जाने लगा। अब यह विशिष्ट रूप से सिंचाई के लिए प्रयोग में लिया जाने वाला विशेष यंत्र हो गया। उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में आज भी यह प्रचलन में है जिसे *चरस* कहा जाता है। यह एक बहुत बड़ा थैला होता है जिससे यह आभास होता है कि एक बार ऊपर खींचने में अत्यधिक मात्रा में पानी बाहर निकाला जा सकता है। इसके अलावा बैलों के चलने का मार्ग ढलावदार होता था जिसकी लंबाई कुएं की गहराई के अनुरूप होती थी। इस विधि द्वारा प्राप्त जल पीने, बर्तन धोने या कपड़े धोने के लिए प्रयोग में नहीं लिया जाता था। इन पांचों प्रणालियों में से, *चरस* एक बहुउद्देशीय साधन नहीं था। यह पूर्णरूप से सिंचाई हेतु ही प्रयोग में लाया जाता था, इस तथ्य को आज तक अनुभव नहीं किया गया है।

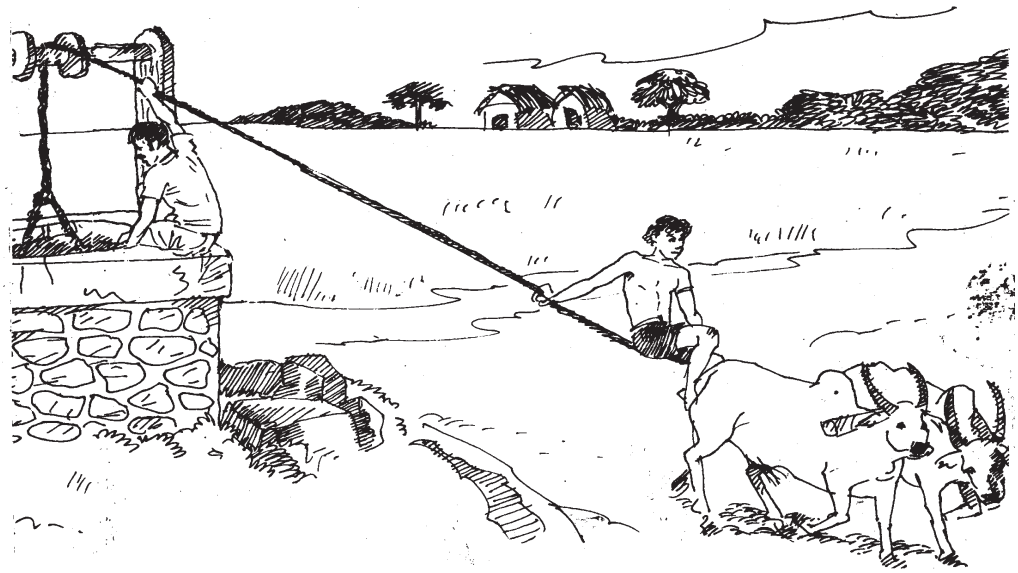

चित्र 14.3: *चरसः* पशु शक्ति का प्रयोग

iv) चौथी विधि जो अर्द्ध-यांत्रिक प्रकृति की थी, 'लीवर के प्रथम श्रेणी सिद्धांत' पर आधारित थी। इसमें एक अभिलम्ब बल्ली या पेड़ के तने (इस कार्य हेतु विशेष रूप से बनी) की धरनी से एक लम्बी रस्सी बांधी जाती थी जिससे यह झूलने वाली स्थिति में रहे। बाल्टी को रस्सी से बांधा जाता था जिसके दूसरे सिरे को कुएं के ऊपर लटकती हुई बल्ली के एक सिरे से बांधा जाता था। इस बल्ली के दूसरे सिरे से एक 'प्रतिभार' लटकाया जाता था जो पानी से भरी बाल्टी से थोड़ा अधिक भारी होता था। इस प्रकार भार और 'प्रतिभार' के दोनों किनारों पर होने से बल्ली के मध्य में आलम्ब (fulcrum) उत्पन्न होता था। इस प्रक्रम में इसे प्रयोग में लाने वाले व्यक्ति को बहुत कम प्रयास करने की आवश्यकता पड़ती है। यह विधि मिस्र में, *शदूफ* के नाम से जानी जाती है। संस्कृत में इसे *तुला* कहते हैं, परंतु बिहार और बंगाल में इसे *ढेंकली* या *लाट/लाठा* कहा जाता है।

चित्र 14.4: *ढेंकली*

v) पांचवीं पानी निकालने की प्रणाली *साकिया* अथवा 'रहट' थी। ऊपर वर्णित चार प्रक्रमों में से किसी में भी पहिये मूलभूत अवयव नहीं थे। इस जल-चक्र को जल-यंत्र कहा जा सकता है क्योंकि इसमें **गियर** प्रणाली की व्यवस्था थी। गियर प्रणाली के साथ हम तकनीकी रूप से एक बहुत उन्नत अवस्था में प्रवेश करते हैं: इस पर केवल हाल ही में बिजली के ट्यूबवैलों द्वारा श्रेष्ठता स्थापित की गयी।

साकिया के उद्गम को लेकर काफी विवाद है: क्या मुसलमानों के भारत में आने के पूर्व इसका अस्तित्व था अथवा क्या यह तुर्कों के माध्यम से भारत में लाई गई? भारत में इसका प्रारंभिक रूप एक चक्र और उसके घेरे से लगे हुए घड़े अथवा मिट्टी के बर्तन था। संस्कृत में इस *अरघट्टा* अथवा *अरहट* कहा जाता था। अंग्रेजी में इस यंत्र को *नोरिया* कहा जाता था जो अरबी शब्द *नौरह* का बिगड़ा हुआ रूप है। इसे मानव शक्ति द्वारा संचालित किया जाता था। इसे उथले पानी या पानी के खुले स्रोत पर प्रयोग किया जाता था जैसे नहर, जलाशय, नदियाँ जिनमें पानी का स्तर ऊपर तक हो। अतः इसका प्रयोग कुओं पर बिल्कुल नहीं किया जा सकता था।

दूसरे चरण में इस यंत्र का प्रयोग कुओं पर किया गया। इस प्रकार के प्रयोग के लिए पहिये से जुड़े हुए पानी के घड़ों को हटाकर इन घड़ों को एक माला या एक लम्बी कड़ी के रूप में जोड़ा

गया जो इतनी लम्बी होती थी कि कुएँ के पानी के स्तर तक पहुंच सके। यह माला या कड़ी दोहरी रस्सी से बनाई जाती थी और कोई सिरा खुला नहीं होता था। इसमें घड़ों को लकड़ी के टुकड़ों से जोड़ा जाता था। महत्वपूर्ण बात यह है कि यंत्र के इस परिवर्तित रूप के लिए अरबी या फारसी में कोई पृथक नाम नहीं है। संस्कृत में इसे घटियंत्र (पात्र-यंत्र; pot-machine) कहा गया हालांकि सामान्य तौर पर दोनों प्रकार के *नोरिया* के लिए *अरघट्टा* या *अरहट्टा* रूप प्रचलित रहा। यह भी मानव शक्ति द्वारा ही संचालित किया जाता था।

तीसरे तथा अन्तिम चरण में हम इस यंत्र में तीन नए परिवर्तन पाते हैं।

i) इसमें दो अतिरिक्त पहिये लगाए गए,

ii) गियर पद्धति का प्रयोग किया गया, तथा

iii) पशु शक्ति का प्रयोग।

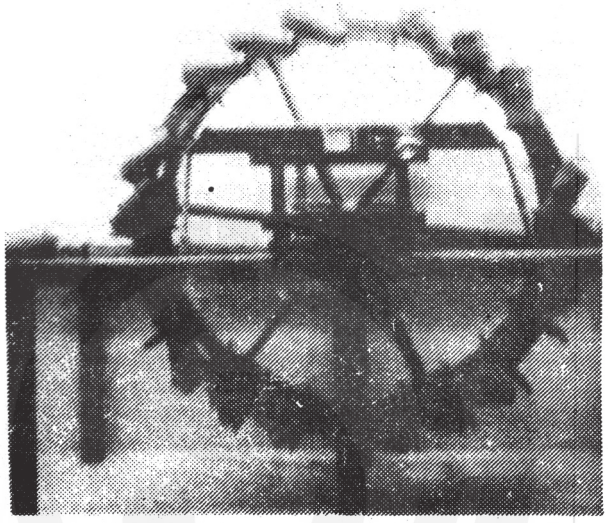

(क)

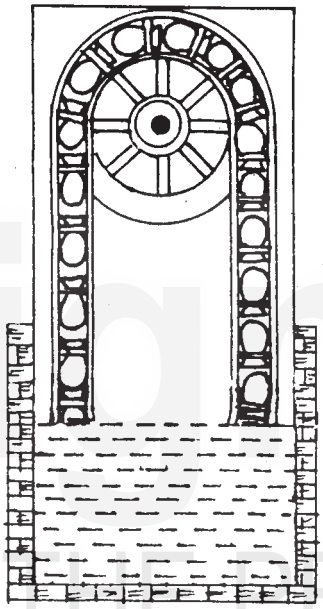

(ख)

(ग)

चित्र 14.5: (क) *नोरिया* की प्रथम अवस्था; (ख) *नोरिया* की द्वितीय अवस्थाः एक कल्पनीय मॉडल (ग) *साक़ियाः नोरिया* की तृतीय अवस्थाः देखें गियर यांत्रिकी के साथ तीन चक्र; तीसरा चक्र घड़ों के साथ

इसमें एक लैन्टर्न पहिया, जिस पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर छोटी-छोटी खूंटियाँ लगी रहती थीं, एक धुरी से जोड़ा जाता था जो पशु शक्ति द्वारा क्षैतिज दिशा में घूमता था। इससे जुड़ा एक अन्य उर्ध्वाकार पहिया था जो एक धुरी से तीसरे पहिये से जुड़ा हुआ था। इस तीसरे पहियें में घड़ों की माला लगी रहती थी जिससे कुएँ से पानी निकलता था। इस प्रकार यह गियर व्यवस्था पशुबल के उपयोग हेतु थी। मुख्य रूप से इसमें लेन्टर्न-चक्र के क्षैतिज बल (horizontal motion) को कुएँ के ऊपर लगे हुए चक्र (वह चक्र जिसमें घड़े लगे हुए हों) के लिए लम्बवत बल (vertical motion) में परिवर्तित करना होता था।

इस विवाद में कुछ आधुनिक विद्वान भ्रमवश *नोरिया* की प्रथम दो अवस्थाओं को *साकिया* के समरूप समझते हैं। लेकिन अब आप जान गये हैं कि *साकिया* न केवल अपनी परिकल्पना बल्कि अपने घटकों की दृष्टि से भी मूलतः भिन्न हैं। एक अर्थगत भूल *साकिया* के लिए भी *अरघट्टा* और *अरहट्टा* (आधुनिक *रहट*) शब्दों का प्रयोग था जब यह प्रारंभिक मध्यकाल में मुसलमानों द्वारा लाया गया। वास्तव में प्राचीन भारत में पशुओं द्वारा चलाए जाने वाले जल-चक्रों का कोई प्रमाण नहीं है।

जल को कुओं से निकलने की ऊपर उल्लेखित 5 विधियों को दो मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता हैः

अ) आवर्तक अथवा असतत् जल आपूर्ति प्रणाली, और

ब) निरंतर आपूर्ति व्यवस्था।

हिन्दुस्तान का अधिकांश भाग समतल भूमि पर स्थित है। यद्यपि हिन्दुस्तान में इतने अधिक नगर तथा इतनी विलायतें हैं किन्तु किसी स्थान पर भी जल-धारायें नहीं हैं। नदियों तथा कहीं-कहीं पर स्थित जलाशय यहां की ''जल-धारायें'' (*आक़ार-सुलार*) हैं। कुछ नगरों में जहां नहरें (*आरिक़*) खोदकर जल लाना सम्भव है वहां भी नहीं लाया जाता। इसके अनेक कारण हैं। इनमें से एक कारण यह है कि यहां की कृषि तथा यहां के उद्यानों को जल की आवश्यकता नहीं होती। खरीफ़ की फ़सल वर्षा के जल से ही हो जाती है। यह बड़ी ही विचित्र बात है कि रबी की फ़सल भी जल के बिना हो जाती है। नन्हे पौधों को डोलची अथवा रहट द्वारा पानी दिया जाता है। उन्हें पानी से लगातार दो या तीन वर्षों तक सींचा जाता हैं; तत्पश्चात् उन्हें सींचने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कुछ तरकारियों को निरन्तर सिंचाई की आवश्यकता होती है।

लाहौर, दीपालपुर, सहरिन्द तथा उस क्षेत्र के स्थानों में *रहट* से सिंचाई होती है। दो रस्सियों को जो गोलाई में कुएं तक पहुंच जायें ले लिया जाता है। दोनों रस्सियों के बीच-बीच में लकड़ियां बांध दी जाती हैं। लकड़ियों पर घड़े बांध दिये जाते हैं। जिन दोनों रस्सियों में लकड़ियां तथा घड़े बंधे रहते हैं उन्हें उस चर्खी पर रख देते हैं जो कुएँ पर रहती हैं। इस चर्खी की धुरी से एक दूसरी चर्खी जुड़ी रहती हैं। उसके निकट (qash; *क़ाश*) ही खड़ी धुरी पर एक अन्य चर्खी होती है। इस चर्खी को बैल घुमाता है। इसके दांत चर्खी के दांत से जुड़े रहते हैं। इस प्रकार वह चर्खी जिस पर घड़े होते हैं घूमती है। जहां घड़ों से जल गिरता है वहां एक कठौता होता है और जल नालियों से होता हुआ प्रत्येक स्थान पर पहुँच जाता है।

आगरा, चन्दवार, बयाना, तथा उस क्षेत्र में डोल से सिंचाई होती है। इसमें बड़ा परिश्रम करना पड़ता है और यह बड़ी ही भद्दी विधि है। कुएँ के किनारे दो शाखाओं वाली एक लकड़ी जाती है। इन दोनों के मध्य में एक गडारी लगा देते हैं। एक बहुत बड़े डोल में एक रस्सी बांधी जाती है। रस्सी गडारी पर रख दी जाती है और उसका एक छोर बैल से बांध दिया जाता है। आदमी को बैल को हांकना पड़ता है तथा दूसरे को डोल को खाली करना पड़ता है। जब बैल डोल खींच कर वापस होता है तो रस्सी बैल के मार्ग पर, जिस पर मूत्र तथा गोबर पड़ा रहता है, लथेड़ती है और फिर वही रस्सी कुएँ में पहुँचती है।

कुछ खेतों को जिन्हें सिंचाई की आवश्यकता होती है स्त्री तथा पुरुष डोल भर-भर कर सींचते हैं।

बाबर द्वारा वर्णित सिंचाई के विभिन्न तरीके (*बाबरनामा*, अनुवाद, ए.ए. रिजवी, *मुगल कालीन भारतः बाबर*, भाग 2, पृ. 170-71.

प्रथम चार विधियों को पहले और पांचवी प्रणाली को दूसरे वर्ग में रखा जा सकता है। इन साधनों को चलाने के स्रोत के आधार पर, अर्थात् मानव द्वारा संचालित और पशुओं द्वारा संचालित, प्रथम और चौथी विधि को मानव शक्ति वर्ग में और अन्य को पशु शक्ति वर्ग में रखा जा सकता है। चूंकि जल को कुओं से ऊपर उठाना होता था, पांचवीं को छोड़ सभी प्रणालियों में दो वस्तुएं

समान रूप में थीं: रस्सी और बाल्टी/थैले। बाल्टी अथवा थैले का आकार प्रयोग में लाई जा रही 'शक्ति' के अनुपात में होता था।

अन्य कई औजार जैसे, बेलचा, गेंती और खुरपी भी होते थे जो न केवल कृषि क्षेत्र में बल्कि बागवानी में भी काम आते थे।

बोध प्रश्न-1

1) 13-15वीं शताब्दियों के मध्य कुओं से जल को निकालने के लिए प्रयोग में आने वाली विभिन्न प्रणालियों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) कुओं से पानी निकालने में प्रयुक्त '*साकिया*' तकनीक का वर्णन कीजिए?

.....

.....

.....

.....

3) सही वाक्य के आगे (✓) और गलत वाक्य के आगे (×) चिह्न लगाइए:

क) कच्चे कुएँ बहुत अधिक पानी निकालने हेतु टिकाऊ होते थे। ( )

ख) *ढेंकली* विशुद्ध लीवर सिद्धान्त पर कार्य करती थी। ( )

ग) *साकिया* के अंतर्गत गियर प्रणाली और पशु-शक्ति का प्रयोग किया जाता था। ( )

घ) *चरस* का उपयोग मुख्य रूप से घरेलू कार्यों हेतु किया जाता था। ( )

14.3 वस्त्र तकनीकी

सल्तनत काल में तुर्कों द्वारा वस्त्र-निर्माण के क्षेत्र में बहुत सी तकनीकें प्रयोग में लाई गई।

14.3.1 ओटाई, धुनाई और कताई

कपास की खेती का संबंध कृषि तकनीकी से है। कपास के गोलों को इकट्ठा करने के पश्चात् इसको बुनने योग्य बनाने के लिए तीन मूलभूत चरणों से गुजरना पड़ता है:

क) ओटाई अथवा बीजों को अलग करना,

ख) धुनाई अथवा तंतुओं को ढीला करना, और

ग) कताई अथवा सूत बनाना।

प्रथम प्रक्रिया दो तरीकों से की जाती थी:

अ) रोलर और बोर्ड विधि, तथा

ब) चरखी

इस प्रकार बीजों से अलग की हुई रुई को, तंतुओं को अलग व उन्हें मुलायम करने के उद्देश्य से, डण्डों अथवा प्रत्यंचा (bow string) से धुना (फारसी में *नद्दाफी* और हिन्दी में धुनना) जाता था। कताई का कार्य पारंपरिक विधि से, तकली (फारसी में *दूक*) के साथ एक फिरकी जो इसे नियंत्रित करती थी, होता था।

वस्त्र निर्माण के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण तकनीकी क्रान्ति 13-14वीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा भारत में लाए चरखे (spinning wheel) द्वारा संभव हुई। प्राचीन भारत में चरखे का कोई अस्तित्व नहीं था। चरखों का प्रथम लिखित संदर्भ हमें इसामी के *फुतुह-उस सलातीन* (1350) में प्राप्त होता है। इसके (चरखे) प्रयोग से तकली का महत्व समाप्त नहीं किया

बल्कि इसने तकली के परिक्रमण में वृद्धि कर दी। चरखे के लकड़ी के फ्रेम के एक किनारे तकली को लगाया जाता था जिसे दूसरी ओर स्थित चक्र पर लगे पट्टे से जुड़े होने के कारण घुमाया जा सकता था। इस प्रकार चरखे में शक्ति संचालन (पट्टे के चलने से) और गतिपालक चक्र (fly wheel) के सिद्धांत निहित थे जिसके फलस्वरूप परिभ्रमण की अन्तरीय गतियां (differential speed of rotation) प्राप्त होती थी। इस बात पर विवाद है कि कब इस यंत्र के साथ हत्थे या क्रैन्क हैंडिल को संलग्न किया गया। लेकिन यह विवाद अब *मिफ्ताह-उल फुज़ला* (*c.*1530) के एक चित्र की सहायता से समाप्त हो गया है। इसमें चरखे को फ्रेम के साथ लगे हत्थे से घुमाते हुए दर्शाया गया है।

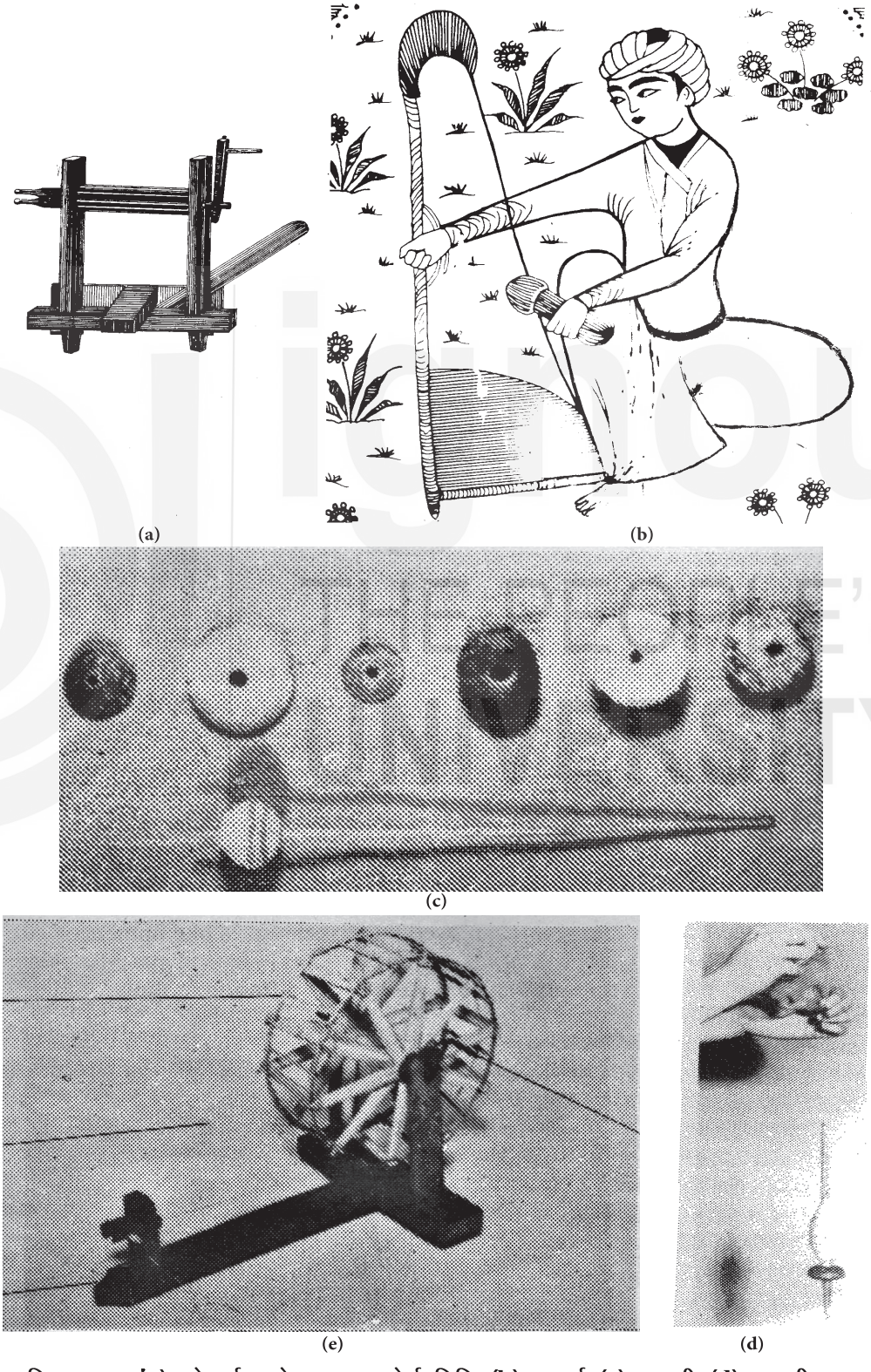

चित्र 14.6: (a) ओटाई : रोलर तथा बोर्ड विधि (b) धुनाई (c) तकली (d) तकली द्वारा सूत कताई (e) चर्खी: 1 तकली 2 बेल्ट 3 चक्र 4 हैंडल

एक आकलन के अनुसार एक ही समय में एक चरखा एक तकली की तुलना में छः गुना अधिक सूत निर्मित कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप अधिक सूत निर्मित होने लगा और लगातार अधिक वस्त्र भी बनने लगे होंगे। यहां यह बताना आवश्यक है कि तकली से निर्मित सूत बहुत महीन किस्म का होता था जबकि चरखे द्वारा मोटे कपड़ों हेतु मोटा सूत निर्मित होता था।

14.3.2 बुनाई

प्रक्षेप-भरनी (throw-shuttle) प्रकृति के क्षैतिज **करघे** (horizontal loom) का प्रयोग साधारण या लहरिएदार मोटे रेशम के वस्त्रों के निर्माण करने में होता था। यह कहना मुश्किल है प्राचीन भारत में **पैरों द्वारा चलाये जाने वाले करघे** (**pit-loom/treadle loom**) का प्रयोग होता था, किन्तु इस करधे का प्रथम प्रमाण हमें लगभग 1530 में चित्रित *मिफ्ताह-उल फुज़ला* (लगभग 1469) से प्राप्त होता है। इस करघे में बुनकर अपने पैरों से धागों के तानों को ऊपर उठा और फैला सकता था जबकि उसके हाथ मुख्यतः भरनी (shuttle) और शेड (shed) पर कार्य करते थे। इससे बुनाई की गति में वृद्धि आयी। पैटर्न बुनाई (एक ही साथ विभिन्न रंगों की) के संदर्भ में एक विद्वान का मानना है कि इस उद्देश्य हेतु ड्रा लूम (draw loom) लगभग 1001 में दक्षिण भारत में उपलब्ध था। लेकिन इसके संबंध में संदेह है। इस मत के जवाब में यह कहा गया है कि शायद इसे मुसलमानों द्वारा 17वीं शताब्दी के अंत में भारत लाया गया था।

चित्र 14.7: पैरों द्वारा चलाये जाने वाले करघे का 16वीं शताब्दी का एक चित्र (कार्यरत कबीर)

14.3.3 रंगाई और छपाई

वनस्पति और खनिज स्रोतों से प्राप्त विभिन्न रंगों को रंगाई हेतु प्रयोग में लाया जाता था। नील, मजीठ (madder) और लाख इत्यादि अधिक प्रचलित थे। नील का प्रयोग विरंजन (bleaching) और रंगाई दोनों के लिए होता था। तेज रंगों के लिए कई पदार्थ जैसे **फिटकिरी** (**alum**) मिलाए जाते थे। भारतीय *रंगरेज* **निमज्जन** (**immersion**), बंधेज जैसी कई विधियों को अपनाते थे। परन्तु ठप्पा-छपाई (*छापा*) प्राचीन भारत में ज्ञात नहीं थी। भारत में इसको लाने का श्रेय कुछ विद्वानों द्वारा मुसलमानों को दिया जाता है।

बोध प्रश्न-2

1) 13वीं-15वीं शताब्दियों में ओटाई के लिए प्रचलित विधियों का वर्णन कीजिए?

.....

.....

.....

2) चरखे पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

3) बुनकरों द्वारा 13वीं-14वीं शताब्दियों में अपनाई जाने वाली तकनीकों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

14.4 भवन निर्माण

इस भाग में हम मुख्यतः तुर्कों द्वारा भारत में लायी गई भवन निर्माण संबंधी तकनीकों का अध्ययन करेंगे।

14.4.1 चूना-गारा

प्राचीन भारत में निर्माण के पारंपरिक मूलभूत अवयव मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और कभी-कभी ईंटें थीं। साधारण चुनाई का पदार्थ या गारा साधारणतः मिट्टी व पानी से मिलकर बना होता था। इसमें भूसा मिलाकर इसे उन्नत किया जाता था जो प्लास्टर के उपयोग में भी आता था। परन्तु चूना-गारा निश्चित रूप से दिल्ली सल्तनत के काल में बाहर से आए। मुसलमानों द्वारा इसे यहां लाया गया।

चूना-गारा के मुख्य अवयव *चूना* और *सुर्खी* (कूटी हुई ईंटें) होते थे। चूना, इसके प्राप्ति स्रोत के आधार पर, कई प्रकार का होता था। चूने के दो मुख्य स्रोत जिप्सम और बजरी (कंकड़) होते थे जिन्हें भट्टियों में जलाकर **अधबुझा चूना** (**quicklime**) प्राप्त किया जाता था। इसे पानी के साथ मिलाकर **बुझा चूना** (**slake lime**) प्राप्त किया जाता था। इस मिश्रण में अब सुर्खी मिलायी जाती थी। इसके पश्चात् गारे को अधिक चिपचिपा बनाने हेतु इसमें कई प्रकार के श्लेषीय (gelatinous), लसदार (glutinous) और रालदार (resinous) चुनाई कारकों जैसे गोंद, दालों, गुड़ इत्यादि को मिलाया जाता था।

14.4.2 मेहराब और गुंबद/मेहराबी छत

चूने-गारे के प्रयोग का एक परिणाम ईंटों के अधिक उपयोग के रूप में निकला क्योंकि इसने ईंटों के भवनों को अधिक टिकाऊ बना दिया। दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि चूने-गारे ने वैज्ञानिक तरीके से निर्मित ***मेहराब*** के निर्माण को सही मायनों में संभव बनाया। वास्तव में, वैज्ञानिक पद्धति से *मेहराब* के निर्माण में ईंटों व पत्थरों की जो व्यवस्था होती है उसके लिए एक मजबूत चुनाई पदार्थ की सख्त जरूरत थी जो **डाट पत्थरों** (**voussoirs**) को एक साथ

जोड़कर रख सके। चूने-गारे ने इस आवश्यकता को पूर्ण किया। इससे तुर्कों के आने से पूर्व के भारतीय भवनों में मेहराबों की लगभग अनुपस्थिति को समझा जा सकता है। लेकिन कुषाण युग इसका अपवाद थाः कौशाम्बी (इलाहाबाद के निकट) में किए गए उत्खनन से छोटी खिड़कियों पर बनी (दरवाजों पर नहीं) मेहराबों का अस्तित्व सामने आया है। जैसा कि आप जानते हैं कुषाण मध्य एशिया से यहां आए थे अतएव वे मेहराब निर्माण से परिचित थे। उसके पश्चात् वैज्ञानिक रूप से बनी मेहराबों का एक भी प्रमाण मुसलमानों के यहां आने तक उपलब्ध नहीं है। मेहराब का एक अन्य रूप **कदलिकाकृत** (**corbelled**) होता था जो धरणिक (trabeate/lintel and beam) निर्माण प्रक्रिया का ही एक रूप था अर्थात् स्तम्भ-व-धरनी (pillar-and-beam) तकनीक जो पूर्व मुस्लिम भारतीय स्थापत्य कला की एक विशिष्टता थी।

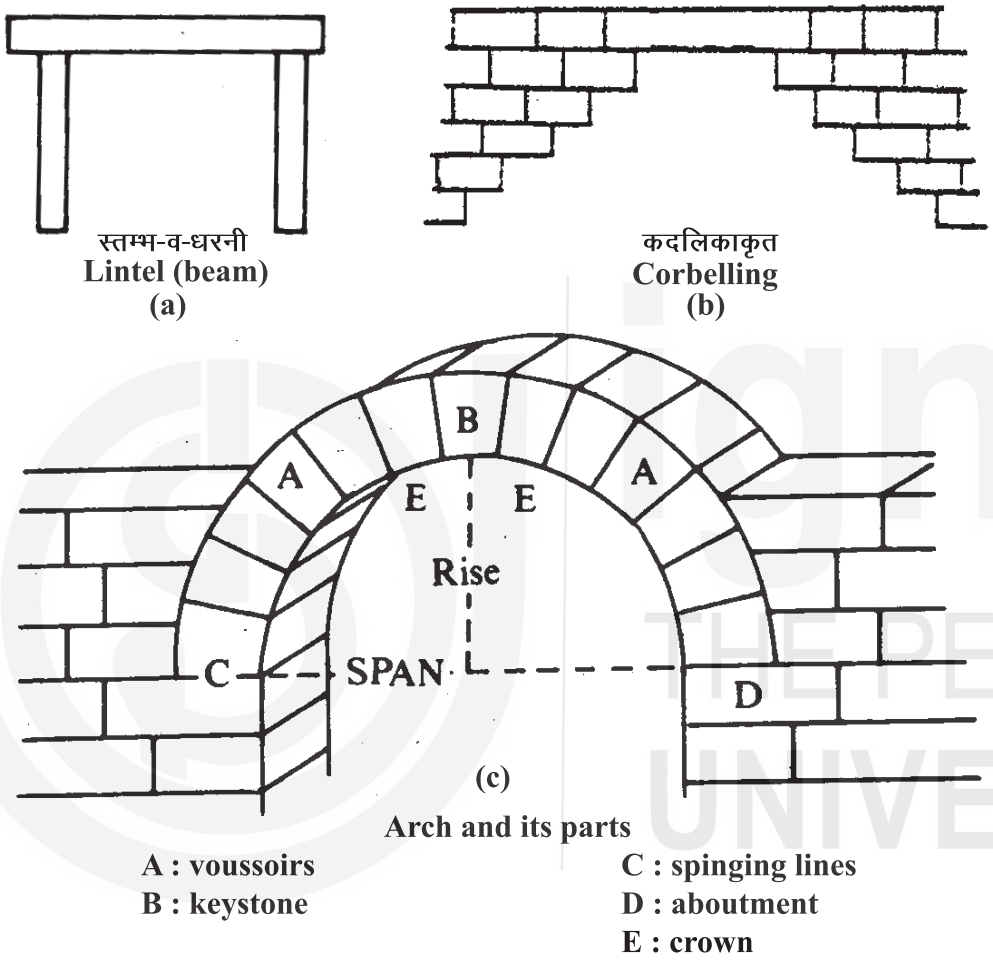

वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई मेहराब और उसके भाग

चित्र 14.8: (क) स्तम्भ-व-धरनी (ख) कदलिकाकृत (ग) वैज्ञानिक तरीके से बनायी गई मेहराब और उसके भाग (i) डाट पत्थर (voussoirs) (ii) मुख्य पत्थर (key stone)

मेहराब से गुंबद (मेहराबी या गुंबदी छत; vaulted roofing; dome) की ओर प्रगति एक प्राकृतिक विकासक्रम था क्योंकि गुंबद निर्माण बिना मेहराब के ज्ञान के संभव नहीं था। इसलिए यह कहा जाता है कि एक गुंबद वास्तव में 360 डिग्री पर बनी एक संपूर्ण मेहराब है। दूसरे शब्दों में, गुंबद का निर्माण वैज्ञानिक तरीके से बनायी गई मेहराबों के प्रतिच्छेदन (intersecting) के सिद्धान्त पर किया जाता था (ध्यान रखेंः गुंबदों की समानता भ्रमवंश बौद्ध स्तूपों के साथ न की जाए)।

सत्रहवीं शताब्दी में भवन निर्माण की दिशा में कोई महत्वपूर्ण नवीन प्रगति नहीं हुई। परन्तु इस काल में भवन का ''नक्शा'' (''blue print'') बनाने की प्रथा चल पड़ी थी। इसे फारसी में *तरह* (खाका) कहते थे जिसमें एक आरेख पत्र पर (''grid of squares''; graph sheet) भवन का खाका खींच लिया जाता था। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारतीय भवनों में यूरोपीय भवनों की तरह खिड़की, चौखट और चिमनी नहीं होती थीं।

14.5 कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी

अब आप जान गये हैं कि बाहर से आये मुसलमानों ने किस प्रकार इस्लामिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में विकसित हुई विभिन्न प्रकार की तकनीकों और औजारों को भारत में लाने का कार्य किया। कागज निर्माण ऐसा ही एक अन्य योगदान था।

प्राचीन भारत में लेखन हेतु कई साधन थेः शिलाएं, ताम्र पट्टिकाएं, रेशम और सूती वस्त्र और विशेष रूप से निर्मित ताड़ की पत्तियों (*तालपत्र*) और भुर्ज की छाल (*बुर्जपत्र*)। अंतिम दो का प्रयोग पुस्तकें लिखने हेतु किया जाता था।

कागज का निर्माण सर्वप्रथम पहली शताब्दी ई. के लगभग चीन में हुआ। यह बाँसों की लुग्दी द्वारा निर्मित किया गया। अरब-मुसलमानों ने कागज निर्माण उन चीनियों द्वारा सीखा जिन्हें 751 के युद्ध के दौरान बन्दी बनाया गया था। शीघ्र ही अरबों ने इस विद्या से चिथड़ों और पुराने मलमल से कागज बनाना विकसित किया।

भारतीय शायद 7वीं शताब्दी में कागज के बारे में परिचित थे परन्तु उन्होंने इसका उपयोग कभी भी लेखन सामग्री के रूप में नहीं किया। जब चीनी यात्री आइ-चिंग ने भारत की यात्रा की तो उसे चीन ले जाने के लिए संस्कृत पांडुलिपियों की नकल हेतु भारत में कागज प्राप्त नहीं हुआ। उसके स्वयं के कागज के समाप्त हो जाने के कारण उसने अपने मित्रों को चीन से उसे कागज भेजने हेतु संदेश भेजा।

दिल्ली सल्तनत के काल में कागज का कई उद्देश्यों के लिए प्रयोग होता था, विशेषतः पुस्तकों, *फरमानों* और विभिन्न व्यावसायिक तथा प्रशासकीय दस्तावेजों हेतु। कागज दिल्ली सल्तनत में इतनी बड़ी मात्रा में उपलब्ध था कि दिल्ली के मिठाई बेचने वाले अपने ग्राहकों को मिठाइयाँ कागज से निर्मित पैकटों, जो पुड़ियां कहलाती थीं, में देते थे जो आज भी भारत में प्रचलित हैं। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि कागज निर्माण केन्द्र कम व दूर-दूर थे। 14वीं शताब्दी के चीनी समुद्री यात्री मा हुआन में हमें ज्ञात होता है कि बंगाल में कागज निर्माण होता था। तथापि अधिकांश कागज की आवश्यकता को इस्लामिक देशों, विशेषतः समरकंद और सीरिया, द्वारा कागज को आयातित कर पूरी की जाती थी।

कागज पर पुस्तकों के लिखने की प्रवृत्ति के साथ ही जिल्दसाज़ी की एक नवीन कला का भारत में विकास हुआ क्योंकि उसकी तकनीक प्राचीन लेखन सामग्री की पत्तियों (*तालपत्रों* और *बुर्जपत्रों*) को जोड़ने की कला से भिन्न थीं।

बोध प्रश्न-3

1) भवन निर्माण कला के क्षेत्र में तुर्कों के योगदान का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) भारत में कागज निर्माण पर संक्षेप में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

14.6 सैन्य तकनीकी

इस भाग में हम केवल निम्नलिखित तीन चीजों का अध्ययन करेंगेः

क) रक़ाब,

ख) नाल, और

ग) बारूद।

14.6.1 रक़ाब

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि लोहे के *रक़ाब* (iron-stirrup) के बारे में भारत में अज्ञानता थी। शायद इसीलिए *रक़ाब* के लिए संस्कृत में कोई शब्द नहीं है। इसके स्थान पर शायद 'कोतल कश' (surcingle), 'बड़े अंगूठे वाले *रक़ाब*' (big toe-stirrup) और 'निलम्बन काँटे' (suspension hooks) का भारत में प्रचलन था। परन्तु *रक़ाब* विशेष मुसलमानों की देन थी। इस *रक़ाब*, को सर्वप्रथम 6वीं शताब्दी के आसपास चीन में प्रयोग में लाया गया और बाद में वहाँ से यह अगली शताब्दी में ईरान व अन्य इस्लामिक देशों में पहुंचा। इल्तुतमिश के शासनकाल में युद्ध कला पर संकलित एक फारसी स्रोत में *रक़ाब* का उल्लेख मिलता है। (*रक़ाब* के सैनिक महत्व के लिए बॉक्स में लिखे परिच्छेद को देखें)।

> युद्ध में घोड़े के उपयोग के इतिहास को तीन कालों में विभक्त किया गया हैः पहला, स्थों में उपयोग, दूसरा चरण घुड़सवार योद्धा का है जो अपने घुटनों की शक्ति का उपयोग कर घुड़ससवारी करता था, और तीसरे चरण में घुड़सवार, घुड़सवारी के लिए *रक़ाब* का उपयोग करने लगा। युद्ध में घोड़े पर बैठे घुड़सवार की स्थिति पैदल सैनिक से बेहतर होती थी। सेना में घोड़े के उपयोग की प्रत्येक बेहतर तकनीक को दूरगामी सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन से जोड़ा गया है।
>
> जब *रक़ाब* का उपयोग नहीं होता था, तो घुड़सवार खूब जमकर नहीं बैठ पाता था और बराबर उसके गिरने की संभावना बनी रहती थी। लगाम और एड़ के बल पर वह घुड़सवारी करता था, साधारण काठी के सहारे वह घोड़े पर जमा रहता था, फिर भी युद्ध करने में उसे दिक्कत होती थी और वह अपनी युद्ध कला को विकसित नहीं कर सकता था। प्रमुख रूप से वह घोड़े पर चढ़कर तेजी से गतिशील मुद्रा में तीरंदाजी कर सकता था और भाले फेंक सकता था। तलवार का उपयोग सीमित था क्योंकि '*रक़ाब* के अभाव में आपका ध्वंसकारी घुड़सवार अपने दुश्मनों पर तलवार भांज तो सकता था', पर अगर वार खाली हो गया तो वह स्वयं धराशायी हो सकता था। *रक़ाब* के चलन के पहले उसे भाला एक हाथ में संभाले रहना पड़ता था और कंधे और भुजा की शक्ति से उससे वार किया करता था। *रक़ाब* के उपयोग से आक्रमण का तरीका और अधिक कारगर हो गया। अब वह भाले पर अधिक नियंत्रण रख सकता था और उसे बाँह और अपने शरीर के बीच रखकर शत्रु पर वार कर सकता था। इसके लिए अब उसे केवल अपने बाहुबल का उपयोग नहीं करना पड़ता था, बल्कि इसके लिए वह अपनी समस्त शक्ति और घोड़े की पकड़ का भी उपयोग कर सकता था।
>
> *रक़ाब* से घुड़सवार को आगे-पीछे के अतिरिक्त बगल से भी सहारा मिलता था और वह काठी के अगले और पिछले हिस्से का उपयोग कर सकता था। इसके उपयोग से घोड़ा और घुड़सवार एक इकाई के रूप में हो गये और उनके आक्रमण में अपूर्व धार और तेजी आ गयी। अब योद्धा को घोड़े के संचालन में अपने हाथों को व्यस्त नहीं करना पड़ता था, अब उसे इशारा भर करना होता था। इस प्रकार *रक़ाब* के उपयोग से मानवीय ऊर्जा की बचत होने लगी और पशु की शक्ति का पूरा उपयोग होने लगा, इससे योद्धा की शत्रु पर मार करने की क्षमता में वृद्धि हुई। इसने घुड़सवार आक्रमण की आकस्मिक तकनीक को जन्म दिया, युद्ध कला के क्षेत्र में यह एक नया क्रांतिकारी परिवर्तन था।
>
> **लिन व्हाइट, *मिडिवल टैक्नॉलॉजी एण्ड सोशल चेंज*, लंदन, 1973, पृ. 1-2**

14.6.2 नाल

जहां मध्यकालीन भारत के कुछ विद्वानों ने *रक़ाब* को तुर्कों को मिली सैन्य सफलताओं के लिए एक सहयोगी कारक माना है, वहीं कम से कम उनके आक्रमणों की प्रारंभिक अवस्थाओं में *नाल* (horse-shoe) को इसके एक दुर्बल सहयोगी के रूप में लिया गया है।

घोड़े को पालतु बनाना ही पर्याप्त नहीं था। इसकी सवारी करने के उद्देश्य से इसे नियंत्रित करने हेतु कुछ यंत्रों की आवश्यकता पड़ती थी, जैसे साधारण लगाम (bridle), काँटेदार लगाम (bitted bridle), हरना (आगे) और पिछले भाग (pommel and cantle) सहित जीन (saddle) और *रक़ाब*।

लोहे की *नाल* का आगमन बाद में हुआ। यह विचित्र है कि घुड़सवारी के साजो-सामान में से नाल ही एक मात्र ऐसा सामान है जिसका अन्य की भांति घोड़े को नियंत्रित करने में प्रत्यक्ष रूप से कार्य नहीं होता है। यदि ऐसा है तो *नाल* लगाने की जरूरत क्यों? इसका कारण घोड़े के खुर हैं जो अश्वीय शरीर रचना का सर्वाधिक कोमल हिस्सा होता है। घोड़े का खुर लगातार

बढ़ने वाला मानव नाखुनों के सदृश्य एक श्रृंगी संरचना होती है जिसके टूटने, छिलने और चिरने का खतरा बना रहता है। अपने मूल प्राकृतिक आवास में घोड़े के पैर और खुर स्वयं व्यवस्थित रहते थे अतः उनको काटने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु घरेलू और सधे हुए घोड़ों को उनको काम में लाते वक्त, विशेष रूप से नम अक्षान्तरों में, *नाल* चढ़ाई जाती थी। ज़ख्मी पैर युक्त घोड़ा लंगडाएगा और उसके सवार के लिए किसी उपयोग का नहीं रहेगा। *नाल* लगाने के दो लाभ हैंः प्रथम इससे नरम जमीन पर पैर को अच्छी पकड़ प्राप्त होती है और द्वितीय खुरदरे कठोर धरातल पर खुर सुरक्षित रह सकते हैं। इस संदर्भ में घुड़सवारों की विश्व व्याप्त सूक्ति समझ आती हैः "नाल नहीं, घोड़ा नहीं"। अश्व सेना में एक पंगु घोड़ा, किसी घोड़े के न होने से ज्यादा बेकार माना जाता है।

भारत के किसी भी पुरातत्वीय उत्खनन में *नाल* का उल्लेख नहीं मिला है। अब यह एक निर्विवाद तथ्य है कि तुर्कों के भारत आने के साथ ही ये यहां आयातित हुए थे। *नाल* एक अरबी/फारसी शब्द है, इसे बनाने या लगाने वाले को *नालबंद* और *नाल* चढ़ाई को *नालबंदी* कहा जाता है। घोड़ों पर संस्कृत साहित्य (*सलिहोत्रा*) में *नाल* लगाने का उल्लेख नहीं मिलता है (*रक़ाब* और *चरखे* की भांति)। इसी कारण *नाल* लगाने के कार्य पर विगत में केवल मुसलमान कारीगरों का एकाधिकार था। कुछ भी हो, हमारे स्रोत केवल ठंडी नाल चढ़ाई की जानकारी देते हैं न कि यूरोप में प्रचलित गर्म-नाल चढ़ाई के बारे में।

14.6.3 बारूद और अग्नि-शस्त्र

कई दशकों पूर्व, कुछ विद्वानों, भारतीय व यूरोपीय दोनों, यह सिद्ध करना चाहते थे कि बारूद और अग्नि-शस्त्रों का प्राचीन भारत में प्रचलन था। संस्कृत स्रोतों में से *शुक्रनीति* को मुख्य रूप से उन्होंने अपने अध्ययन हेतु केन्द्र-बिन्दु माना। तथापि अन्य विद्वानों ने उनके निष्कर्षों को, *शुक्रनीति* के सावधानीपूर्ण अध्ययन के बाद, ठुकरा दिया। पुनश्चः यह सिद्ध करने के असफल प्रयास हुए कि गज़नी शासक सुल्तान महमूद के आक्रमणों के बाद भारत आने वाले मुसलमान अग्नि-शस्त्रों का प्रयोग करते थे।

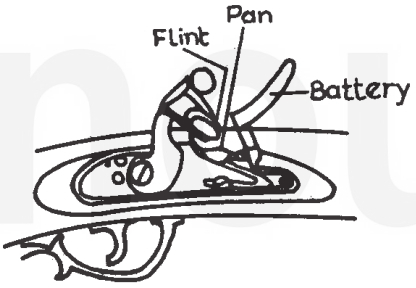

FLINTLOCK

चित्र 14.9: चकमकी पत्थर की विधि (Flint-lock)

बारूद में शोरा, गंधक और चारकोल होता है, और इसका आविष्कार सर्वप्रथम चीन में हुआ। कालान्तर में यह इस्लामिक देशों में पहुंचा। बाहर से आए तुर्कों द्वारा बारूद, शायद 13वीं शताब्दी के अंत में या 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में, भारत लाया गया। लेकिन वह बात ध्यान देने योग्य है कि सुल्तान फिरोज़ शाह तुगलक के शासनकाल तक इसका उपयोग केवल आतिशबाजी के लिए होता था न कि अग्नि-शस्त्रों या तोप के गोले दागने हेतु। अग्नि-शस्त्रों का सर्वप्रथम उपयोग 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के गुजरात, मालवा और दक्खन जैसे प्रदेशों में हुआ। किसी भी स्थिति में, नियमित आधार पर यूरोपीय अग्नि-शस्त्रों का प्रयोग पुर्तगालियों द्वारा किया गया जब वे 1498 में कालीकट आये, और उत्तर भारत में प्रारंभिक 16वीं शताब्दी में बाबर द्वारा।

Medieval Swords

चित्र 14.10: मध्यकालीन तलवारें

बाबर ने राजपूतों और अफगानों के विरूद्ध युद्धों में बंदूकों और तोपों का उपयोग किया। ये बंदूकें वस्तुतः तोड़ेदार बंदूकें (matchlock) थीं। यूरोप में बंदूक चलाने के लिए दो और विधियों का उपयोग किया

जाता था। चक्र तकनीक (**व्हील-लॉक**; **wheel-lock**) (लगभग 1520) और चकमकी पत्थर की विधि (**फ्लिंट लॉक**; **flint lock** लगभग 1620)। इसमें फलीते (matchcord) का उपयोग नहीं होता था। अबुल फज़ल बताता है कि अकबर की आयुधशाला में तोड़ेदार विधि के बिना ही छोटी बंदूक का निर्माण किया जाता था परंतु वह किसी अन्य वैकल्पिक विधि का उल्लेख नहीं करता है। यहां शायद फ्लिंट लॉक या चकमकी पत्थर की विधि का उपयोग किया जाता होगा क्योंकि यूरोप में भी चक्र तकनीक या व्हील लॉक का इस्तेमाल पिस्तौल के लिए हुआ करता था। परंतु इन छोटी बंदूकों (चकमक बंदूकों) का उत्पादन सीमित पैमाने पर होता था। बहुत संभव है कि अकबर अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए ऐसी बंदूकें बनावाया करता हो क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में उत्तर भारत में भारतीय इस तकनीक से कम ही परिचित थे। वस्तुतः औरंगजेब के समय तक के चित्रों में तोड़ेदार बंदूकों का ही चित्रण मिलता है।

यूरोप में बनी पिस्तौलों की बिक्री 1609 में बुरहानपुर में की जाती थी। कभी-कभी यूरोपवासी भारतवासियों को पिस्तौल भेंट के रूप में दिया करते थे। परंतु भारतीय चक्र तकनीक (wheel-lock) की कला नहीं सीख पाए। भारत में भारतीय शासकों के लिए विभिन्न आकारों की तोपें बनाई जाती थीं।

यहां हमें आक्रमण और बचाव के लिए उपयोग में आने वाले परम्परागत अस्त्रों जैसे तलवार, भाला, छुरा, तीर, धनुष, ढाल आदि का विवरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। यह रोचक तथ्य है कि आमतौर पर भारतीय वक्राकर तलवार रखते थे, जबकि इसके विपरीत यूरोप में दोहरी धार वाली सीधी तलवार का प्रचलन था। बाद में सत्रहवीं शताब्दी में मराठा यूरोपीय शैली की तलवार रखने लगे।

बंदूक को साफ करने की प्राविधि का जिक्र करते हुए अबुल फजल लिखता है:

> आरम्भ में एक शक्तिशाली व्यक्ति लोहे के औजार से बड़े परिश्रमपूर्वक बंदूक की *नाल* को साफ करता था। महामहिम [अकबर] ने अपने अनुभव के आधार पर एक पहिए का आविष्कार किया जिससे काफी कम समय में बंदूक की सोलह *नालें* साफ की जा सकती थीं। इस पहिए को बैलों की सहायता से घुमाया जाता था।

एक अन्य स्थल पर अबुल फज़ल लिखता है कि अकबर ने एक ऐसी यांत्रिकी विकसित की थी जिसकी सहायता से एक घोड़ा दबाने से ही एक साथ सत्रह बंदूकों से गोली दागी जा सकती थी।

14.7 कलई

घरेलू तांबे (और पीतल) के बर्तनों में बासी खाद्य सामग्री रखने से अम्ल-विषाक्ता का खतरा रहता है। इसलिए उन पर टिन का एक आवरण, विशेष रूप से अन्दर की ओर, खाद्य-अम्ल की रासायनिक क्रिया से बचने के लिए, लगाया जाता है। यह कला भारत में तुर्कों के साथ आयी। इस तकनीक का प्राचीन भारत में कोई प्रमाण नहीं मिलता। साहित्यिक स्रोतों के अलावा, दक्षिण (कोल्हापुर के निकट) में उत्खन्न क्षेत्रों में पुरातत्वीय प्रमाण मिलता है जहां एक, बाहर व भीतर दोनों ओर, कलई युक्त ताम-पात्र प्राप्त हुआ है। परन्तु चूंकि, इस पात्र के साथ बहमनी साम्राज्य (1347-1538) के सिक्के भी प्राप्त हुए थे। यह उसी युग का माना जाना चाहिए।

कलई करने वाले *कलईगार* (*क़लई* = टिन) कहलाते थे। टिन (*रंगा*) एक अत्यंत आघातवर्ध्य और नभ्य (malleable and ductile) धातु हैं, और धातु के बर्तनों पर इसकी कलई से उनको जंग व रासायनिक विशाक्तता से सुरक्षा मिलती है। *कलईगार* सर्वप्रथम बर्तनों से मिट्टी, इत्यादि हटा देता है। इसके बाद उन्हें एक छोटी भट्टी पर चारकोल की सहायता से गर्म किया जाता है। ताप की आवश्यक डिग्री को बनाए रखने के लिए छोटी धौंकनियों (bellows) का प्रयोग किया जाता है। अगले चरण में रुई की सहायता से शुद्ध टिन और *नौसादर* (salammoniac) के मिश्रण को लगाया जाता है। नौसादर का वाष्पीकरण हो जाता है और धातु का धरातल स्वच्छ निकल आता है। इसी दरम्यान टिन पिघलता है तथा रुई को निरंतर चारों ओर रगड़कर पूरे पात्र पर इसे फैला दिया जाता है – बाहर व अन्दर।

अबुल फज़ल *आइन-ए अकबरी* में कलई का उल्लेख करता है। उसके अनुसार शाही रसोई के ताम्र बर्तनों पर एक माह में दो बार कलई की जाती थी जबकि शहजादों व अन्य के लिए एक बार।

बोध प्रश्न-4

1) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिएः

अ) *रक़ाब* .....

.....

ब) *नाल* .....

.....

2) खाली स्थानों को पूरा कीजिएः

अ) बारूद का आविष्कार ..... में हुआ।

ब) भारत में अग्नि-शस्त्रों का प्रयोग सर्वप्रथम ..... के काल में हुआ।

स) भारत में कलई की विधि ..... द्वारा प्रसारित की गई।

14.8 काँच निर्माण तकनीकी

काँच एक जटिल कृत्रिम औद्योगिक पदार्थ है। यह क्रिस्टल काँच (crystal), स्फटिक (quartz), **लावा काँच** (**obsidian**) और पोर्सलिन और चीनी मिट्टी (faience) से भिन्न होता है। एम. जी. दीक्षित (*हिस्ट्री ऑफ ग्लास*) ने बताया है कि काँच की भारत में कमी नहीं थी परंतु उन्होंने यह भी माना है कि भारतीय काँच पदार्थों में "मनके या चूड़ियों जैसी छोटी-छोटी चीजें ही बनाई जाती थीं"।

मुसलमानों के आगमन के बाद दवा की शीशी, जार और शीशे के पात्र इस्लामी देशों से भारत आने लगे परंतु भारतीयों द्वारा इनके स्वयं निर्माण शुरू करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

16वीं-17वीं शताब्दी के दौरान यूरोपवासी अपने साथ काँच से बने कई तरह के सामान लाए। ये सब हमारे लिए नए थेः जैसे काँच का दर्पण। हम भारतीय केवल धातुओं (तांबा और कांसा) के दर्पण से परिचित थे परंतु काँच का दर्पण हमारे यहां उपलब्ध नहीं था। इसके अलावा वे काँच के बने चश्मे और लैंस भी अपने साथ लाए। यूरोपवासियों ने ये वस्तुएं भारतवासियों को बतौर भेंट दीं और कभी-कभी वे इसे बेचा भी करते थे। परंतु इनका बाजार काफी सीमित था। अतः विवेच्य काल में भारतीय यूरोप में बनी काँच की वस्तुओं का उपयोग करने लगे परंतु उन्होंने उसका निर्माण शुरू नहीं किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि 15वीं शताब्दी के दौरान भारतीयों को रेत घड़ी (sand or hour-glass) बनाने की तकनीक ज्ञात थी, परंतु मुगल कालीन चित्रों में यूरोप में निर्मित रेत घड़ी को ही दर्शाया गया है जिसे यूरोपवासी अपने साथ भारत लेकर आए थे। भारत में इसके निर्मित किए जाने की सूचना 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिलती है।

इसके अतिरिक्त हमें यूरोप में निर्मित पानी पीने के ग्लास, आवर्धक (magnifying glass) या ज्वलंत ग्लास (burning glass) और अग्रवर्ती ग्लास (टेलीस्कोप) की भी जानकारी मिलती है। यह टेलीस्कोप कांच के लैंसों से बनती थी, अतः सत्रहवीं शताब्दी में भारत में इसके बनने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

14.9 जहाज निर्माण

मध्यकालीन युग में सभी जगह जहाज का निर्माण लकड़ी से किया जाता था। तख्तों को जोड़ने के लिए कई उपाय किए जाते थे। भारत में इसके लिए चूल बैठाने (rabbeting) की प्रथा थी। यह मूलतः पटरा और खांचा सिद्धांत (tongue-and-groove) पर आधारित थी। एक पटरे ('tongue') को दूसरे पटरे के खांचे (groove) से जोड़ दिया जाता था। इसके बाद तख्तों को एक स्वदेशी लेप और चूने से जमाया जाता था जिससे कि छिद्रों को भरा जा सके और समुद्री कीड़ों से भी लकड़ी के तख्तों का बचाव किया जा सके। तख्तों को जोड़ने के लिए मछली के तेल का भी प्रयोग होता था। भारतीयों ने यूरोपवासियों के टांकने की विधि (caulking) नहीं

अपनाई, जिसमें तख्तों को जोड़ने या उन्हें किसी प्रकार के रिसाव से बचाने के लिए पुराने सन के रेशे या पुरानी रस्सी के टुकड़े में लेप (oakum) मिलाकर उसे जोड़ों, छिद्रों और ठीक से न जुड़ने वाले हिस्सों से भर दिया जाता था। इस तकनीक का भारतीयों द्वारा न अपनाए जाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह भारतीयों की स्वदेशी तकनीक की अपेक्षा अधिक बेहतर नहीं थी। इसके अतिरिक्त टांकने की विधि भारतीय विधि से काफी खर्चीली भी थी।

यूरोपवासियों के आने से पहले जहाजों और नावों के तख्तों को नारियल की बनी रस्सी अथवा कभी-कभी लकड़ी की कीलों से जोड़ा जाता था। यूरोपवासी अपने जहाजों को मजबूत और टिकाऊ बनाने के लिए लोहे की कीलों और शिकंजों (clamps) का इस्तेमाल करते थे। भारतवासियों ने इन नई तकनीकों को शीघ्रता से अपना लिया। 1510 के आसपास वार्थेमा ने कालीकट में खड़े भारतीय जहाजों में "लोहे की कीलों का जमकर उपयोग" देखा था। अबुल फज़ल (1593-94) बताता है कि अकबर के एक जहाज को बनाने के लिए 468 मन लोहे का इस्तेमाल होता था। मुगल कालीन कुछ चित्रों में जहाजों के निर्माण में लोहे की कीलों, पत्तियों और शिकंजों का उपयोग दर्शाया गया है।

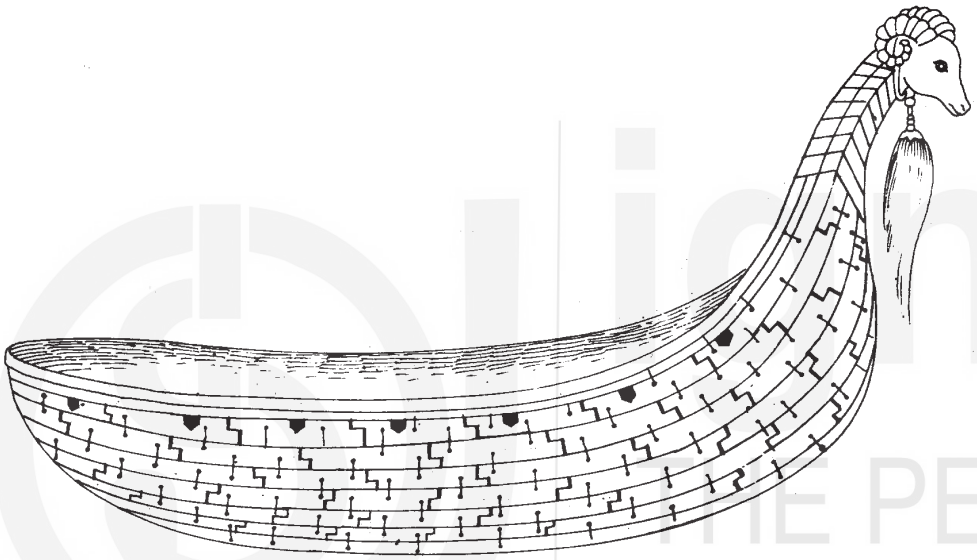

चित्र 14.11: रैबेटिंग और तख्तों को जोड़ने के लिए लोहे की कीलों का प्रयोग

इसी प्रकार भारतीयों की सकारात्मक प्रतिक्रिया सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में बने लोहे के लंगरों (anchor) का उपयोग करना थी। इसके पहले लंगरों के लिए बड़े पत्थरों का उपयोग किया जाता था।

जहाज से पानी निकालने के लिए भारतीय बाल्टी का उपयोग करते थे। हालांकि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपवासियों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले लोहे के चेन पंप का उपयोग भी भारतीय कमोबेश करने लगे। पर इनका निर्माण भारत में नहीं होता थाः वे या तो यूरोपवासियों से खरीदे जाते थे या उधार लिए जाते थे।

समुद्र यात्राओं के लिए मुसलमानों द्वारा भारत में दिशासूचक (कुतुबनुमा; magnetic compass) का उपयोग एक महत्वपूर्ण योगदान था।

14.10 आसवन

ऐसा कोई समाज नहीं हुआ जिसने मादक पेय पदार्थों का निर्माण न किया हो। वैदिक युग में *सोम* रस ऐसा ही एक मादक पेय था। मदिरा प्राप्त करने की दो विधियां हैंः किण्वन (fermentation) और आसवन (distillation)। प्रथम विधि सम्पूर्ण विश्व में सुज्ञात थी। मदिरा चावल, गन्ने के रस, महुआ के फूलों के किण्वन द्वारा प्राप्त की जाती थी।

आसवन (distillation) विधि बाद में प्रचलित हुई। यह कहा जाता है कि सर्वप्रथम इसकी खोज 12वीं शताब्दी में इटली में हुई। भारत के संदर्भ में एक राय यह है कि आसवन तुर्कों की देन है।

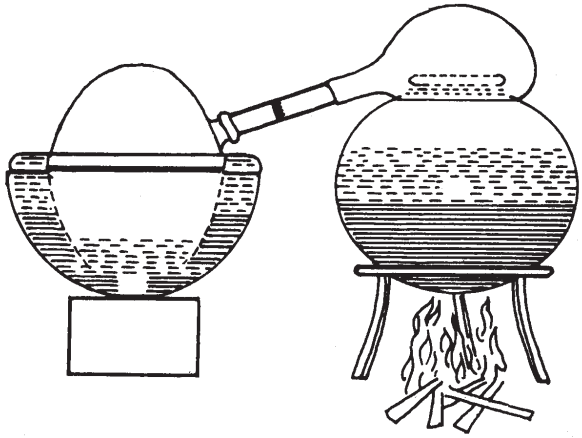

चित्र 14.12: आसवन-यन्त्र का निर्माण (मार्शल, 1953)

यह मत स्वीकार्य नहीं है। हाल ही के वर्षों में पाकिस्तान के सिरकप (तक्षशिला) और शैखान ढ़ेरी में उत्खनन के दौरान आसवन के संयंत्र जैसे संपूर्ण संक्षेपण पात्र (condensers) और भभका (still) के कुछ भाग प्राप्त हुए हैं जो तक्षशिला के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यह संयंत्र दूसरी शताब्दी बी सी ई से दूसरी शताब्दी सी ई के मध्य का है, तुर्कों के भारत आने से बहुत पूर्व। तुर्कों का योगदान इसे पूर्व की तरफ प्रचलित करने का है।

14.11 धातुशोधन तकनीकी

हम नीचे भारत में मौजूद धातुशोधन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करने जा रहे हैं:

i) धातु गलाने के लिए लकड़ी के कोयलों (पत्थर के कोयले की जानकारी नहीं थी) का ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। अतः धातु गलाने का काम वहीं किया जाता था जहां लकड़ी की आपूर्ति आसान होती थी।

ii) धातु गलाने वाले छोटी भट्टियों का उपयोग करते थे जिसमें संभवतः उच्च ताप सहनेवाली मिट्टी नहीं होती थी।

iii) धौंकनी बिना धारियों (पट्टियों; ribless) की तथा छोटी होती थी जिससे ज्यादा हवा नहीं फूंकी जा सकती थी, इसलिए इससे धातु को गलाने के लिए भट्टी में आवश्यक ताप पैदा करने की ताकत नहीं होती थी।

iv) लोहे और तांबे को गलाने के लिए कई भट्टियों (कभी-कभी आठ) का उपयोग किया जाता था जहां से उसे साँचों में ले जाया जाता था। सभी भट्टियों में धातु एक समान नहीं गल पाती थी अतः इनके मिलने से बनी हुई वस्तु हमेशा उच्च कोटि की नहीं होती थी।

अबुल फज़ल ने अकबर की आयुधशाला में लोहे की तोपों और छोटी बंदूकों की नाल बनाने की तकनीक का उल्लेख किया है। संभवतः इन नई तकनीकों का आविष्कार किया गया था। इस बात की जानकारी नहीं है कि बाद में इनमें सुधार किया गया या नहीं। तोपों के निर्माण में तांबा, पीतल और लोहे का उपयोग होता था।

भारत में जस्ता (zinc) संबंधी धातु शोधन तकनीक की शुरुआत बारहवीं शताब्दी के आसपास हुई। अबुल फज़ल जस्ता उत्पादन के लिए राजस्थान के जावर क्षेत्र का वर्णन करता है। जावर के निकट किए गए उत्खनन में जस्ता आसवन के लिए उपयोग में लाए जाने वाले साँचे पाए गए है।

राजस्थान में खेतरी में तांबे की खाने थीं। टीन का उत्पादन भारत में सामान्यतः नहीं होता थाः इसे अन्य एशियाई क्षेत्रों से आयात किया जाता था। कांसे का उपयोग सिंधु घाटी सभ्यता के काल से ही होता रहा है। पीतल जैसी मिश्रित धातु (तांबा और जस्ता या टीन) भी भारत में तैयार की जाती थी।

इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि भारत में और खासकर आंध्र प्रदेश में लगभग 400 बी सी ई से ही असली "**वूट्ज़**" ("**wootz**") लोहे का उत्पादन होता था। संभवतः "वूट्ज़" शब्द तेलुगु शब्द "उक्कू" का बिगड़ा हुआ रूप है। इसे सीरिया तक निर्यात किया जाता था। वहाँ डैमस्कस में इससे तलवार बनाई जाती थी (जो डैमेस्कन तलवार के नाम से प्रसिद्ध थी)।

चित्र 14.13: धातु शोधनः धातु को गलाने की विधि; लकड़ी के कोयले का प्रयोग; भट्टी; धौंकनी (*आइन-ए अकबरी*)

14.12 मुद्रणालय

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत और चीन के बीच इतने आदान-प्रदान के बावजूद चीन के लकड़ी के ठप्पों (ब्लाक) से छपाई की तकनीक के संबंध में भारतवासियों ने जरा-सी भी रुचि नहीं दिखाई। पुर्तगाली 1550 के आसपास यूरोप में बने धातु की टाइप अपने साथ गोवा तक लेकर आए। यहां उन्होंने इसाई संतों के उपदेशों, मराठी और कोंकणी भाषाओं और बोलियों की व्याकरण और शब्दावली छापनी शुरू की। परंतु इसके लिए उन्होंने देवनागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि अपनाई।

सम्राट जहांगीर ने जैसुइट सम्प्रदाय के ईसाइयों को कहा था कि फारसी या अरबी लिपि में टाइप नहीं ढ़ाले जा सकते, इसके जवाब में उसने तुरंत 1591 में वैटिकन में छपे ईसोपदेश की अरबी प्रति दिखा दी। लेकिन इसके बाद जहांगीर ने कभी इसमें रुचि नहीं प्रदर्शित की।

1670 के दशक में सूरत स्थित इंग्लिश कम्पनी के मुख्य दलाल भीमजी परक ने इस तकनीक में गहरी रुचि दिखाई। भीमजी के निवेदन और खर्चे पर एक प्रेस और छपाई मशीन 1674 में भारत आई। भीमजी ने 'मोढ़ी (banian) तरीके' की टाइप बनवाने की कोशिश की परंतु इंग्लिश छपाई कारीगर को टाईप काटने और ढालने की जानकारी नहीं थी, अतः ऐसा संभव नहीं हो पाया। भीमजी की सहायता करने के लिए इंग्लैंड से टाइप काटने वाला कारीगर नहीं उपलब्ध कराया गया। इसके बावजूद भीमजी अपने सपने को साकार करने और देवनागरी लिपि का टाइप बनवाने के प्रयासों में जुटा रहा। उसने अपने कर्मचारियों को इस कार्य में लगाया।

वे सब भारतीय थे। सूरत स्थित अंग्रेज फैक्टर बताते हैं कि 1676/77 के दौरान "हमने मोढ़ी (banian) प्रकृति के कुछ छपे कागज देखे जिसे भीमजी के आदमियों ने तैयार किया था जो बहुत ही स्पष्ट, सुपाठ्य और सुंदर थे।" परंतु शीघ्र ही भीमजी की हिम्मत टूट गई और उसने यह कार्य बीच में ही छोड़ दिया।

14.13 समय मापन पद्धतियाँ

घड़ी विज्ञान के इतिहास से विभिन्न देशों में मानवजाति द्वारा समय ज्ञात करने के लिए अपनाए गए विभिन्न तरीकों का पता चलता है। समय ज्ञात करने की इन विधियों में धूप घड़ी, जल घड़ी, रेत घड़ी, यांत्रिक घड़ी और हाथ घड़ी उल्लेखनीय हैं।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के दौरान भारत के शहरों में समय पता करने के लिए जल घड़ी (डूबने वाला कटोरा) का उपयोग काफी किया जाता था। इसे फारसी में *तास* और इस पूरी यांत्रिकी (कटोरा तथा मुद्गर) को *तास घड़ियाल* कहते थे। पानी में डूबा हुआ कटोरा समय बताता था और घंटे पर मुद्गर से प्रहार करके समय की घोषणा होती थी। इसे *घड़ियाल* (भारतीय शब्द) कहते थे। अफीफ की *तारीख-ए फिरोज़ शाही* में दिल्ली सल्तनत के काल में जल घड़ी का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फिरोज़ाबाद में सुल्तान फिरोज़ शाह तुगलक ने *तास घड़ियाल* लगवाया था। बाबर ने भी *बाबरनामा* में इसका उल्लेख किया है। अबुल फज़ल ने भी विस्तार के साथ इसका उल्लेख किया है।

मुगलों से काफी पहले यूरोपवासियों ने यांत्रिक घड़ी की आधारभूत यांत्रिकी विकसित कर ली थी जिसमें वजन से घूमने वाली सुई (weight-drive) और "एस्केप" (escapement)या निर्गम पद्धति का उपयोग होता था। यूरोपवासी अक्सर इस प्रकार की घड़ियाँ भारतवासियों, खासकर सभ्रांत वर्ग, को भेंट में दिया करते थेः (सर टामस रो ने जहांगीर को एक ऐसी ही घड़ी भेंट की थी परंतु सम्राट ने अपने संस्मरण में उसका उल्लेख तक नहीं किया है)। आगरा स्थित जेसुइट चर्च में एक बड़ी दीवार घड़ी थी जिसके घंटे की "आवाज शहर के हर हिस्से में सुनाई देती थी"। काफी लंबे समय से भारतवासी यूरोप में बनी इन घड़ियों से परिचित थे परंतु इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि भारतवासियों के किसी सामाजिक समूह ने इसे अपनाने की कोशिश की हो। ये उनके लिए मात्र "खिलौने" थे, और साधारण रूप में या "राजनयिक" रूप से प्राप्त भेंट के रूप में लिए जाते थे। यूरोप की इस घड़ी को भारतवासी इस कारण से स्वीकार नहीं कर सके क्योंकि दोनों स्थानों पर समय की अवधारणा में अंतर था। यूरोपीय अवधारणा के अनुसार 12 घंटे का दिन और 12 घंटे की रात होती थी जबकि भारत में एक दिन आठ *पहरों* में विभाजित था। दिन में सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक चार और पुनः सूर्यास्त और सूर्योदय तक चार *पहर* होते थे। प्रत्येक *पहर घड़ियों* में विभक्त होता था, एक *घड़ी* में 24 मिनट होते थे। इस प्रकार भारतीय पद्धति में पूरे दिन में 24 मिनट के "60 घंटे" होते थे और यूरोपीय पद्धति में 60 मिनट के 24 घंटे होते थे।

14.14 विविधा

i) भारतवासी यूरोपवासियों के समान शोरा को परिशुद्ध करने के लिए धातु (तांबा) के वाष्प पात्र (boiler) का उपयोग नहीं करते थे। वे मिट्टी के पात्रों का उपयोग करते थे।

ii) व्यापार के लिए माल को ढोने के लिए बैलगाड़ियों का आमतौर पर प्रयोग होता था। घोड़ा-गाड़ी का प्रयोग काफी कम था। मुख्यतः इसे सवारी के लिए ही प्रयोग किया जाता था। आमतौर पर उससे सामान नहीं ढोया जाता था। सर टामस रो ने जहांगीर को चार घोड़ों से खींची जाने वाली अंग्रेजी बग्घी उपहार स्वरूप प्रदान की थी। सम्राट ने इस पर सवारी भी की थी (उन्होंने इसे *रथ फिरंगी* कहा था)। सम्राट तथा सत्ताधारी वर्ग ने भारतीय बढ़इयों से इस नमूने की बग्घियां बनवाईं। परंतु यह रूझान अल्प समय तक ही जीवित रहा। सत्रहवीं शताब्दी में इसमें कोई विकास नहीं हुआ।

iii) जहांगीर के शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में रसायन संबंधी एक खोज की गई थी। यह गुलाब का इत्र था जिसे *इत्र-जहांगीरी* के नाम से जाना जाता था। अपने संस्मरण (*तुजुक-ए जहांगीरी*) में सम्राट ने इसका वर्णन इस प्रकार किया हैः

इस इत्र की खोज मेरे शासनकाल में नूरजहां बेगम की मां द्वारा की गई थी। जब वे गुलाब-जल बना रही थीं तो जग में गर्म गुलाब जल पात्र में डाला। इससे पात्र की तली में एक प्रकार का झाग (चर्बी) जमा हो गया। उन्होंने धीरे-धीरे इस झाग को इकट्ठा किया। काफी गुलाब-जल से संतोषजनक मात्रा में झाग प्राप्त हुआ। इसके समान उच्च कोटि का दूसरा कोई इत्र नहीं है। उनकी इस खोज पर बतौर उपहार मैंने आविष्कारकर्ता को मोतियों का हार प्रदान किया। सलीमा सुल्तान बेगम... ने इस तेल (*रोगन*) को *इत्र-जहांगीरी* का नाम दिया।

iv) पानी को ठंडा करने के लिए शोरे का उपयोग एक अन्य महत्वपूर्ण रासायनिक आविष्कार था। अबुल फज़ल बताता है कि वही शोरा जो बारूद में आग पैदा करता है उससे पानी को ठंडा भी किया जा सकता है। उसने विस्तार से शोरे से पानी ठंडा करने की विधि का विवरण भी प्रस्तुत किया है।

v) यह बताया जाता है कि सम्राट अकबर ने एक बैलगाड़ी विकसित की थी जो यात्रा करने और सामान ढोने के साथ-साथ अनाज भी पीसती थी। भारत में मुगलकाल के दौरान इस कार्य के लिए पनचक्की का इस्तेमाल बहुत कम ही होता था। मुगल कालीन एक चित्र (1600) जो भारत के बाहर की एक कथा पर आधारित है एक अधोजल चालित पनचक्की दर्शाता है। यहां तक कि अनाज पीसने के लिए पवनचक्की (*आसिया-ए बाद*) का इस्तेमाल भी कम होता था, ऐसी एक पवनचक्की अहमदाबाद में सत्रहवीं शताब्दी में लगाई गई थी जिसके अवशेष अभी भी देखे जा सकते हैं। आमतौर पर हाथ की चक्की का प्रयोग किया जाता था। इसमें दो पत्थरों के बीच अनाज को पीसा जाता था। यह एक पुरानी प्रथा थी।

बोध प्रश्न-5

1) चूल बैठाने (rabbeting) और टांकने की विधि (caulking) से आप क्या समझते हैं? भारतीयों ने टांकने की विधि को वरीयता क्यों नहीं दी और उन्होंने उसे क्यों नहीं अपनाया?

.....

.....

.....

2) भारतवासियों ने यूरोपीय समय मापने की पद्धति क्यों नहीं अपनाई?

.....

.....

.....

3) खाली स्थानों को पूरा कीजिएः

(क) *इत्र जहांगीरी* का आविष्कार ..... द्वारा किया गया।

(ख) शोरा का उपयोग ..... के लिए होता था।

(ग) भारतीय घरों में ..... और ..... नहीं होती थी।

(घ) भारतीय शोरा को परिशुद्ध करने के लिए ..... का बना वाष्प पात्र उपयोग में लाते थे।

14.15 सारांश

इस इकाई द्वारा आपको उन तकनीकों या विधियों का ज्ञान हुआ होगा जिनसे सल्तनत कालीन लोग अपनी रोज़मर्रा की वस्तुओं का निर्माण या उत्पादन करते थे। कृषि के संदर्भ में अब आप लोहे के फाल युक्त हलों, बोआई की प्रणालियों, सिचांई-साधनों, फसल-कटाई, गुहाई और ओसाई से परिचित हैं। वस्त्र उद्योग के अंतर्गत आप औटाई, धुनाई, कताई, बुनाई, रंगाई और छपाई संबंधी अध्ययन कर चुके हैं। भवन निर्माण के संदर्भ में चूना-गारा, वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई मेहराबों और गुंबद, मेहराबी छतें अधिक महत्वपूर्ण हैं। कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी नयी कलायें थीं। यही स्थिति *रक़ाब*, *नाल* और बारूद के संदर्भ में सैन्य तकनीकी की थी। *कलईगिरी* भी एक नया उद्यम था। काँच उत्पादन इस काल में निम्न-स्तरीय था। अब आप जान गए कि

पुर्तगालियों के आने से पूर्व तक पोत निर्माण में लोहे का प्रयोग नहीं होता था। मादक द्रव्यों के उत्पादन के लिए किण्वन और आसवन प्रणाली अपनाई जाती थी।

अंत में मुसलमानों द्वारा भारत में लाई गई नई विधियों और उद्यमों को संक्षेप में दोहराए: *साक़िया, चरखा* करघा (पैरों द्वारा संचालित), चूना-गारा, मेहराब, गुंबद, कागज और जिल्दसाज़ी, *रक़ाब, नाल,* बारूद, *कलई* और नाविक के लिए कुतुबनुमा। भारतीयों ने इन सभी को बिना किसी झिझक या विरोध के स्वीकार किया।

इस इकाई में आप मुगल शासन के दौरान भारत में विज्ञान और तकनीकी के विभिन्न आयामों की जानकारी भी प्राप्त की। सम्पूर्ण विषयवस्तु को दो स्तरों पर परखा गया : क) स्वदेशी विकास, ख) यूरोपीय विज्ञान और तकनीक के प्रति भारतीय रुझान।

इस काल में विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों का कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं रहा। जहां तक तकनीकी का प्रश्न है खासकर सैन्य क्षेत्र में कुछ नये आविष्कार हुए और नए तरीके अपनाए गये। रासायनिक क्षेत्र में, गुलाब का इत्र और पानी ठंडा करने के लिए शोरा का उपयोग नयी उपलब्धियां थीं।

इस इकाई में यूरोपीयन विज्ञान और तकनीक से भारतवासियों के परिचय पर भी प्रकाश डाला गया है। परंतु सभी क्षेत्रों में भारतीयों का रुझान एक जैसा नहीं था। जैसे जहाज निर्माण के क्षेत्र में तो भारतीयों का सकरात्मक रवैया सामने आया परंतु काँच तकनीकी के क्षेत्र में यह बात देखने को नहीं मिलती है। कई कारणों से विभिन्न तकनीकों के प्रति भारतवासियों का रवैया सकारात्मक, नकारात्मक और उदासीन रहा। जहां तक विज्ञान का संबंध है भारतवासियों ने यूरोप के अनुभव से लाभ नहीं उठाया।

14.16 शब्दावली

फिटकिरी (alum) सफेद खनिज लवण जो रंगाई में उपयोगी होता है

***मेहराब* (arch)** वक्राकार संरचना

डाट पत्थर (voussoirs) वे पत्थर अथवा ईंटें जो मेहराब बनाने में प्रयुक्त होते हैं मुख्य पत्थर (key stone) के अतिरिक्त

कदलिकाकृत (corbelled) वह विधि जिसके द्वारा छत बनाने के लिए पत्थर के कोनों को अन्दर की तरफ निकाल कर, पत्थरों को एक के ऊपर एक रखकर खाली स्थान को भरा जाता है (देखें **खंड 4 इकाई 17**)

गियर दांतनुमा चक्रों का एक समूह जो दूसरे ऐसे ही समूह में फिट होकर शक्ति संचालन करता है

निमज्जन पानी के धरातल के नीचे किसी वस्तु को रखना

लूम (करघा) वस्त्र बुनाई का यंत्र

धरणिक (Lintel and beam) वह विधि जिसमें छत को बड़े पत्थर या धरनी (beam) द्वारा ढका जाता है (देखें **खंड 4 इकाई 17**)

ट्रेडिल-लूम/पिट लूम (treadle/pit loom) पैरों द्वारा चलने वाले लूम (करघे)

बुझा-चूना (slake-lime) कैलशियम हाइड्रॉक्साइड $Ca(OH)_2$: यह कैलशियम ऑक्साइड पर जल की क्रिया द्वारा तैयार होता है

अनबुझा चूना (Quicklime) कैलिशयम ऑक्साइड (Ca+O) जो कैलिशयम कार्बोनेट (चूना) को गर्म करके प्राप्त किया जाता है

चक्र पद्धति/तकनीक (wheel-lock) बंदूक में प्रयुक्त वह तकनीक जिसमें बंदूक चलाने के लिए लोहे के टुकड़े द्वारा चक्र को घुमाकर चिंगारी जलाई जाती थी जिससे गोली चलाई जाती थी

चकमक पत्थर तकनीक (Flint lock) सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में गोली चलाने के लिए आवश्यक चिंगारी के लिए चकमक पत्थर का प्रयोग किया जाता था

वूट्ज़ (wootz) कन्नड़ "*उक्कू*" लोहा; यह लोहा बनाने की अत्यधिक प्राचीन भारतीय विधि है

लावा कांच (Obsidian) लावा कांच जो कि आमतौर पर काला होता हैं पट्टित (banded) अथवा स्फेरूलाइटिक (spherulitic) होता है और उसमें विशेष संख्या खंड (conchoidal fracture), विशिष्ट चमक और रायोलाइट (rhyolite) के सदृश्य संरचना होती हैं, लेकिन उसमें पानी का अंश अधिक होता है

14.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 14.2.4

2) देखें उप-भाग 14.2.4

3) (i) × (ii) ✓ (iii) ✓ (iv) ×

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 14.3.1

2) देखें उप-भाग 14.3.2

3) देखें उप-भाग 14.3.2

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 14.4.1, 14.4.2

2) देखें भाग 14.5

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 14.6.1, 14.6.2

2) अ) चीन ब) 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स) तुर्क

बोध प्रश्न-5

1) देखें भाग 14.13 बताइए कि भारतवासी यूरोप की यांत्रिक घड़ी से परिचित थे परंतु भारतवासियों की समय मापन पद्धति उनसे अलग थी। व्याख्या कीजिए।

2) देखें भाग 14.9

3) (i) नूरजहां बेगम की मां द्वारा (ii) पानी ठंडा करने के लिए (iii) खिड़की के शीशे और चौखट, चिमनी (iv) मिट्टी

14.18 संदर्भ ग्रंथ

हबीब, इरफान, (1969) 'प्रेसीडेन्शियल एड्रैस' *प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कॉन्ग्रेस,* वाराणसी.

हबीब, इरफान, (1978-79) 'टेक्नालॉजी एंड बैरिअर्स टू सोशल चेंज इन मुगल इंडिया', *इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू,* भाग v, नं. 1&2.

कैसर, ए. जान, (1982) *इंडियन रेस्पांस टू यूरोपियन टेक्नालॉजी एंड कल्चर* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

14.19 शैक्षणिक वीडियो

अर्बन इकॉनॉमी एंड टेक्नालॉजी ड्यूरिंग द दिल्ली सल्तनत
https://www.youtube.com/watch?v=pT8Jv400e-E

बुल्स फैंचिंग वैल-वाटर। एंशियंट टेक्नॉलॉजी सिस्टम इन इंडिया एंड पाकिस्तान
https://www.youtube.com/watch?v=fTvEJDBMsSo

इकाई 15 कस्बे, नगर तथा नगरीय केन्द्रों का विकास*

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 मध्यकालीन नगरों के अध्ययन संबंधी परिप्रेक्ष्य

15.3 13-15वीं शताब्दियों में नगरों का विकास

15.4 सल्तनत काल में नगरीय उत्पादन

15.5 मुगलों के अधीन नगरीय परिदृश्य

15.6 नगरीय जनसंख्या की संरचना (शहरी वर्ग)

15.7 नगरीय जनसांख्यिकी

15.8 शहरी जीवनः जीवन स्तर

15.9 सारांश

15.10 शब्दावली

15.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.12 संदर्भ ग्रंथ

15.13 शैक्षणिक वीडियो

15.0 उद्देश्य

मध्यकालीन भारत का नगरीय इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण और रोचक विषय है। इस इकाई में आप मध्यकाल में नगरीय अर्थव्यवस्था और नगरों के विकास का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- दिल्ली सल्तनत काल की दो परस्पर संबंधित गतिविधियों के विकास को जान सकेंगेः
  - क) शहरों के आकार और संभवतः शहरों की संख्या में भारी वृद्धि को,
  - ख) शिल्प उत्पादन के अत्यधिक विस्तार को।

इस इकाई के अध्ययन से आपः

- मध्यकालीन भारत में शहरीकरण को जान सकेंगे तथा साथ-साथ इस विषय में प्रतिपादित प्रमुख दृष्टिकोणों की जानकारी भी प्राप्त करेंगे,
- मध्यकालीन शहरों की भौतिक विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे, तथा
- मध्यकालीन शहरी जीवन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे।

*प्रो. शीरीन मूसवी, सेंटर ऑफ एडवांस्ड स्टडीज इन हिस्ट्री, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़; प्रो. ए. आर. खान, प्रो. रवीन्द्र कुमार और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी नेशलन ओपन यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली।

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ईएचआई-03: *भारतः 8वीं सदी से 15 वीं सदी तक*, खंड 6, इकाई 21; और ईएचआई-04: *भारतः 16वीं शताब्दी से मध्य 18वीं शताब्दी तक*, खंड 7, इकाई 28 से ली गई है।

15.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आपको मध्यकाल के नगरीय इतिहास से परिचय कराएंगे। मध्यकालीन भारत का शहरी इतिहास एक महत्वपूर्ण विषय होने के बावजूद इतिहासकारों का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाया है। इस विषय में अध्ययन के विविध क्षेत्रों की बड़ी संख्या इसके बहुआयामी होने की ओर संकेत करती है। शहरी केन्द्रों का विस्तार, उनका आकार, नगरीय अर्थव्यवस्था, तथा शहरी समाज इस विषय में अध्ययन के आयामों के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।

उपलब्ध समकालीन प्रमाणों से पता चलता है कि गौरी के आक्रमण के समय नगरीय अर्थव्यवस्था पतन की स्थिति में थी। सल्तनत की स्थापना से पहले की शताब्दियों में नगरों की संख्या कम और आकार छोटा था। इतिहासकार डी. डी. कोसाम्बी के अनुसार राजधानी भी तम्बुओं का एक ऐसा शहर था जो एक स्थान से दूसरे स्थान प्रस्थान करता रहता था। उच्च शासक वर्ग सेना के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान भ्रमण करता रहता था जबकि निम्न कुलीन वर्ग पूर्णतः गांवों में सीमित था। इतिहासकार आर. एस. शर्मा भी शहरों के ह्रास के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। उन्होंने पुरातात्विक खुदाई से प्राप्त प्रमाणों के विस्तृत शोध के आधार पर शहरों के ह्रास के मत को पुनः स्थापित किया है। शहरों के ह्रास संबंधी मत की पुष्टि इस काल के मन्द व्यापार से भी होती है। इस काल में सोने-चांदी के सिक्कों की भारी कमी तथा विदेशी सिक्कों की पूर्ण अनुपस्थिति भी यह संकेत देती है कि विदेशी व्यापार बहुत निम्न अवस्था में था। किसी एक क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों के भण्डार में दूसरे क्षेत्रीय राज्यों के सिक्कों की अनुपस्थिति भी यह दिखाती है कि आंतरिक व्यापार भी बहुत मन्द अवस्था में था। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के लगभग तुरंत बाद यह स्थिति तेजी से बदलती दिखाई देती है। पुरातात्विक साक्ष्य और सिक्कों के अध्ययन साहित्यिक स्रोतों के इन प्रमाणों की पुष्टि करते हैं कि सल्तनत काल में शहरों का विकास हुआ और व्यापार में वृद्धि हुई। इन प्रमाणों के आधार पर इतिहासकार मोहम्मद हबीब ने ''शहरी क्रांति'' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

इस इकाई में पहले हम आपको नगरीय इतिहास से परिचित करायेंगे। हम सैद्धांतिक के साथ-साथ शहरीकरण के अध्ययन के प्रति अपनाये गये सामान्य परिप्रेक्ष्य के विषय पर भी चर्चा करेंगे। हम प्रमुखतः शहरों की संरचना और शहरी जीवन शैली पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इस प्रकार के अध्ययन से हमारा दृष्टिकोण इस बात से निर्धारित होगा कि हम किस प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आप देखेंगे कि शहरों की संरचना और शहरी समाज और जीवन का जो प्रारूप हम यहां प्रस्तुत करेंगे वह मध्यकालीन शहरीकरण के प्रश्न से सीधे संबंधित है।

15.2 मध्यकालीन नगरों के अध्ययन संबंधी परिप्रेक्ष्य

विद्वानों ने शहरीकरण का शहरों के भौतिक विकास और एक विशिष्ट जीवन शैली (शहरी) के रूप में अध्ययन किया है। पश्चिमी देशों में इस क्षेत्र में काफी काम किया गया है परन्तु भारत में शहरी इतिहास का अध्ययन अभी विकास की व्यवस्था में है। इस भाग में हम भारत में इस विषय में अब तक किये गये शोधों के आधार पर तत्कालीन शहरी संरचना की जानकारी देंगे।

गांव के विपरीत शहरों की दो प्रमुख विशेषताओं पर अब आम सहमति है। प्रथम तो यह कि शहर एक घनी आबादी वाला ऐसा क्षेत्र था जिसका विस्तार सीमित और निर्धारित था। दूसरा यह कि यहां की जनसंख्या प्रमुखतः गैर-कृषि आधारित थी। इस प्रकार शहरों में व्यक्ति : स्थान अनुपात सीमित था और यहाँ के निवासी विविध प्रकार के व्यवसायों में कार्यरत थे।

मध्यकालीन भारत में शहरीकरण के विषय में विभिन्न व्याख्यायें दी गई हैं। इन व्याख्याओं में शहरीकरण के जिन कारणों पर चर्चा की गई है वह प्रमुखतः चार प्रकार के शहरी केन्द्रों के विकास की ओर इंगित करते हैंः

i) प्रशासनिक

ii) धार्मिक

iii) सैनिक/सामरिक महत्व के

iv) बाजार (वाणिज्यिक)

प्रशासनिक शहर स्वाभाविक रूप से प्रशासन के केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे। मुगलकाल के दिल्ली और लाहौर जैसे शहर इसी श्रेणी में आते थे। धार्मिक केन्द्र प्रमुखतः तीर्थ यात्रियों को आकृष्ट करते थे, उदाहरण के लिए वाराणसी तथा मथुरा। सैनिक और सामरिक महत्व के शहरों का विकास प्रमुख रूप से छावनियों के रूप में हुआ। बाद में इन केन्द्रों में गैर-सैनिक जनसंख्या भी बस गई। अटक और असीरगढ़ जैसे शहर इस श्रेणी के थे। चौथी श्रेणी में ऐसे शहर आते हैं जो वाणिज्यिक गतिविधियों के केन्द्र या उत्पादन के स्थल थे। अक्सर इस प्रकार के शहरों में दोनों गतिविधियां केन्द्रित होती थीं। इस श्रेणी में मुगल साम्राज्य के पटना और अहमदाबाद जैसे शहर आते थे।

यहां हमें दो बातों का ध्यान रखना जरूरी है। पहला यह कि मुगल काल का एक औसत शहर सामाजिक व्यवहार और विशेषताओं में गांव का एक विस्तृत रूप था। यह ग्राम-शहर अविच्छन्नता मुगलकालीन शहरीकरण की एक प्रमुख विशेषता थी। मुगल शहरी अर्थव्यवस्था की विविधता को देखते हुए इस काल के भारतीय शहर का कोई एक निश्चित स्वरूप स्थापित करना भ्रामक होगा। दूसरी विशेषता यह थी कि बाह्य रूप से समान (कार्यों की दृष्टि से) दिखते हुए भी दो शहर वास्तव में काफी भिन्न होते थे। वास्तव में किसी शहरी केन्द्र का विकास उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों और भौगोलिक अवस्थिति संबधी अनेक कारकों पर निर्भर था।

15.3 13-15वीं शताब्दियों में नगरों का विकास

शहरों की संख्या और आकार में वृद्धि के विषय में उपलब्ध प्रमाणों की चर्चा करने से पहले, आइये हम यह देखें कि शहर या नगर का क्या तात्पर्य है। शहर की दो साधारण परिभाषाएँ हैं: 1) आधुनिक सामान्य परिभाषा के अनुसार 5000 से अधिक जनसंख्या वाली कोई बस्ती, 2) एक ऐसी बस्ती जहाँ अधिकांश जनसंख्या (लगभग 70 प्रतिशत से ऊपर) कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में संलग्न हो। यह दोनों परिभाषाएँ एक दूसरे की पूरक नहीं हैं परंतु द्वितीय परिभाषा बहुत छोटे शहरों पर भी लागू हो सकती है।

प्राचीन काल के लिए जिस प्रकार के पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हैं वे 13वी-15वीं शताब्दी के लिए नहीं मिलते क्योंकि मध्यकालीन पुरातत्व के क्षेत्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इस काल के ग्रन्थ नगरों के विकास की पुष्टि करते हैं। समकालीन ग्रन्थों में जिन प्रमुख नगरों का विवरण मिलता है वे हैं – दिल्ली (राजधानी), मुल्तान, अन्हिलवाड़ा (पाटन), खम्भात, कड़ा, लखनौती और दौलतबाद (देवगिरि)। लाहौर एक बड़ा शहर था परन्तु 13वीं शताब्दी के मंगोल आक्रमणों के बाद इसका ह्रास हुआ। किन्तु 14वीं शताब्दी में यह फिर समृद्ध हो गया। इस काल में शहरों की जनसंख्या के लिए कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती परन्तु ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय के मानकों से वे काफी बड़े शहर थे। इब्न बतूता, जो 1330 में दिल्ली आया, लिखता है कि दिल्ली, जबकि मुहम्मद तुगलक वहाँ की बड़ी जनसंख्या दौलताबाद स्थानांतरित कर चुका था तब भी सम्पूर्ण पूर्वी इस्लामिक साम्राज्यों में आकार और जनसंख्या में सबसे बड़ा शहर था। दौलताबाद के विषय में भी वह कहता है कि वह आकार में इतना बड़ा था कि दिल्ली का मुकाबला कर सकता था। इस काल में कुछ नए शहर भी अस्तित्व में आए जैसे राजस्थान में झाइन जिसका नाम अलाउद्दीन खलजी के काल (1296-1316) में ''शहर नौ'' (नया शहर) रखा गया।

नगरीय विकास के उत्तरदायी कारण

एक अपरिचित नए प्रदेश में जाने वाले आक्रमणकारियों के लिए स्वाभाविक था कि वे इधर-उधर बिखरे रहने की अपेक्षा संयुक्त रूप से रहें। इसलिए प्रारंभिक चरणों में तुर्क आक्रमणकारी अपने घुड़सवारों के साथ अपने *इक्ताओं* के मुख्यालयों में रहने लगे। प्रारंभिक अवस्था में *इक्ता* मुख्यालयों में *मुक्ती*, उसके घुड़सार, उन पर निर्भर अन्य वर्ग, नौकर-चाकर और इन सभी के परिवार केन्द्रित थे और यह एक बड़े सैनिक शिविरनुमा शहर थे। वास्तव में इस काल के अधिकांश शहरों का समकालीन स्रोतों में *इक्ता* मुख्यालयों के रूप में वर्णन किया गया

है। उदाहरण के लिए – हांसी, कड़ा, अन्हिलवाड़ा, आदि। इन शहरों को बनाए रखने के लिए इन्हें अनाज और आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध कराना पड़ता था। प्रारंभ में *खराज* (भूमिकर) की वसूली के लिए सैनिक आस-पास के गांवों पर धावा बोलते थे अथवा लूट-मार करते थे। लेकिन धीरे-धीरे चौदहवीं शताब्दी तक, जैसा कि मोरलैण्ड कहता है, नकद धन के रूप में कर वसूली की व्यवस्था स्थापित हुई। अब किसानों से भूमिकर नकद धन के रूप में मांगा जाता था। अब किसान खेतों पर ही अपना अनाज बेचने के लिए मजबूर हो जाते थे। व्यापारीगण शहरों की आवश्यकताओं की आपूर्ति करते थे जिससे व्यापार का ऐसा सिलसिला चला जिसे हम 'प्रेरित व्यापार' ('Induced trade') कहते हैं।

एक भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आने वाले इस नये शासक वर्ग की आराम और विलासिता की आवश्यकतायें भी भिन्न थीं, वे फारसी कविता और गाने, भिन्न प्रकार के नृत्य, किताबें, पहनने के लिए रेशमी कपड़े तथा मेहराबी (न कि पत्थरों से निर्मित स्थूलकाय) भवन निर्माण चाहते थे। उस काल के मानदण्डों के अनुसार इस वर्ग के पास अपार संसाधन थे। अतः वे इनसे अपनी रुचि के अनुसार आराम और विलासिता की वस्तुएं प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए इस्लामी संस्कृति के केन्द्रों से अप्रवास को प्रोत्साहन मिला। इन अप्रवासियों में, जैसा कि इसामी ने लिखा है, केवल सैनिक ही नहीं बल्कि, शिल्पी, कारीगर, गायक, नृतक, संगीतज्ञ, कवि, हकीम, ज्योतिषी और कार्मिक थे। अप्रवासी कुशल कारीगरों ने संभवतः नई तकनीकों और तकनीकी का प्रयोग किया (इसके विषय में आपने विस्तार से **इकाई 14** में पढ़ा)। समय के साथ-साथ भारतीय कारीगरों ने भी नये शिल्पों के विषय में सीखा।

बोध प्रश्न-1

1) मध्यकाल में शहरों के विकास के लिए उत्तरदायी कारक बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित कथनों पर सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइएः

i) सन् 1200 से पहले के प्राप्त सिक्कों के भण्डारों में सामान्यतः विदेशी सिक्के नहीं मिलते हैं। ( )

ii) दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण काल में लाहौर एक बड़ा शहर रहा। ( )

iii) इब्न बतूता दिल्ली की जनसंख्या के विषय में अपना अनुमान बताता है। ( )

15.4 सल्तनत काल में नगरीय उत्पादन

ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने शहरी शिल्प उत्पादन को दोहरा बढ़ावा दियाः

i) सल्तनत कालीन शासक वर्ग शहरों में केन्द्रित था और अपने अपार संसाधन, जो उसे भूमि कर के रूप में प्राप्त होते थे, शहरों में ही खर्च करता था। यह धन वह सेवाओं के भगुतान के रूप में देता था या उत्पादित वस्तुएं खरीदता था। जो धन सेवाओं के भुगतान के रूप में दिया जाता था उसका भाग अंशतः गुणक प्रभाव (multiplicr effect) के कारण शिल्प उत्पादन के क्षेत्र में जाता था। जबकि शासक और अमीर वर्ग की मांग अधिक मूल्य की विलासिता की वस्तुओं की थी; उस पर निर्भर निम्न वर्ग ने कदाचित साधारण आवश्यकता के शिल्प उत्पादन के लिए एक बड़े बाजार को जन्म दिया।

ii) नगरीय उत्पादन को बढ़ाने वाला दूसरा कारण आक्रमणकारियों द्वारा भारत लाई गई तकनीकें थीं (इसके विषय में विस्तृत अध्ययन आपने **इकाई 14** में किया)। विलासिता के क्षेत्र में रेशम के कपड़ों का उत्पादन बढ़ाः ईरान से कालीन बनाने की कला आई। एक अन्य महत्वपूर्ण नगरीय उत्पादन कागज बनाना था। शहरों में रोजगार प्रदान करने वाला सबसे बड़ा क्षेत्र

संभवतः भवन निर्माण का था। बरनी के अनुसार अलाउद्दीन ने अपनी इमारतों के निर्माण के लिए लगभग 70,000 कारीगर रखे थे।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 1400 में शहरों में प्रति एकड़ भवनों का अनुपात 1200 की तुलना में कहीं अधिक था।

उत्पादन का संगठन

हमारे लिए यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि उत्पादन किस प्रकार संगठित किया जाता था? क्या शहरों में कारीगर उत्पादन के लिए **''घरेलू पद्धति''** (**domestic production**) प्रयोग करते थे – अर्थात् उनके पास अपने औजार और कच्चा माल था? क्या उत्पादन पर उनका ही स्वामित्व था और वे स्वयं इसे बाजार में बेचते थे? दूसरे शब्दों में क्या वे स्वयं रोजगार में लग्न थे? अथवा क्या उनके औजार अपने थे और वे अपने घर पर उत्पादन करते थे अथवा उन्हें कच्चा माल व्यापारियों द्वारा दिया जाता था जो उत्पादित वस्तुएं ले लेते थे अर्थात् ये कारीगर **'*दादनी* प्रणाली'** (**putting-out-system**) पर कार्य करते थे? समकालीन ग्रंथ इन आयामों के विषय में बहुत कम जानकारी प्रदान करते हैं। फिर भी चूँकि नई तकनीकी के बावजूद अधिकांश औजार लकड़ी या अल्प मात्रा में लोहे के होते थे अतः यह मानने में कोई आपति नहीं होनी चाहिए कि औजार काफी सस्ते थे। इसलिए कारीगर अपने औजारों का स्वयं स्वामी होता था। शायद श्रम के संघठन के भिन्न तरीके प्रचलित थे। कुछ कारीगर घूम-घूमकर कर आवाज लगाते हुए अपनी सेवाएं बेचते थे। इस श्रेणी में धुनिये को रखा जा सकता है जैसा कि *खैर-उल मजालिस* में विवरण है यह कंधे पर रूई धुनने का यंत्र रखकर घर-घर आवाज लगाता घूमता था और एक निश्चित धनराशि के बदले लोगों की रूई धुनता था। सूत कातने का काम अधिकांशतः महिलाएं घरों में ही करती थीं। कपड़ा बुनने वाले अपने घरों में करघे पर उस सूत से कपड़ा बनाते थे जो वे स्वयं कातते या बाजार से खरीदते थे। वे एक निश्चित मजदूरी लेकर लोगों द्वारा दिए गए सूत से कपड़ा बनाकर भी देते थे। लेकिन अगर कपड़ा बनाने में प्रयोग होने वाला कच्चा माल रेशम, सोने और चांदी के तार जैसा कीमती होता था तो इसे बनाने के लिए उन्हें किसी की निगरानी में *कारखानों* में जाकर यह कार्य करना होता था। सुल्तान और अमीरों के अपनी आवश्यकता और विलासिता की कीमती वस्तुएं बनाने के लिए स्वयं के अपने *कारखाने* थे। इन *कारखानों* की उपस्थिति के विषय में हमें निश्चित जानकारी मिलती है। डी. डी. कोसाम्बी के अनुमान के विपरीत इन *कारखानों* में इनके स्वामियों के निजी प्रयोग के लिए वस्तुएँ बनाई जाती थीं, बाजार के लिए नहीं। शहाबुद्दीन *अल-उमरी* अपनी पुस्तक *मसालिक-उल अबसार* में लिखता है कि दिल्ली में मुहम्मद तुगलक के *कारखानों* में लगभग चार हज़ार रेशम के कारीगर कशीदाकारी का कार्य करते थे। अफीफ के अनुसार, फिरोज़ तुगलक के *कारखानों* में कपड़े और कालीन बड़ी मात्रा में बनाए जाते थे यद्यपि हमारे स्रोतों में व्यापारियों के *कारखानों* का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु हम यह कह सकते हैं कि शायद वे भी बाजार के लिए अपने *कारखानों* में कुछ उत्पादन करते हों।

बोध प्रश्न-2

1) तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में नगरीय उत्पादन में वृद्धि के लिए उत्तरदायी कारकों का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) नगरीय केन्द्रों में श्रम के संघठन के विभिन्न रूपों का विवरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

15.5 मुगलकालीन नगरीय परिदृश्य

मध्यकालीन शहरों की विभिन्नता के विषय में उपरोक्त चर्चा को स्वीकार करते हुए भी मुगल शहरों की कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्नानुसार देखी जा सकती हैं:

भौतिक विन्यास

अधिकांश शहर एक ऐसी चारदीवारी में स्थित होते थे जिसमें एक या अधिक प्रवेशद्वार होते थे। शहर की प्रमुख जनसंख्या इन चारदीवारी के अंदर ही रहती थी। शहरों के विस्तार के साथ अक्सर शहरी जनसंख्या इन दीवारों के बाहर तक बसने लगती थी। 17वीं शताब्दी के अंत में जॉन जॉर्डन का आगरा का वर्णन एक विशिष्ट मुगल शहर के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। जॉर्डन के अनुसार ''यह शहर नदी की दिशा में 12 कोस लम्बा है जो लगभग 16 मील के बराबर है। यह एक चारदीवारी में स्थित है, परन्तु उपनगरीय बस्ती शहर की दीवारों से लगी हुई ही थी। अगर दीवारों में प्रवेश द्वार न हों तो यह कह पाना मुश्किल होगा कि आप शहर की दीवारों के भीतर हैं या बाहर।'' अक्सर अमीर और कुलीन शहर की दीवारों के बाहर अपनी कोठियां और बाग बनवाते थे। इस प्रकार दिल्ली, आगरा, पटना, अहमदाबाद और इलाहाबाद जैसे नगरों के बाहर इन कोठियों और बागों के आसपास बस्तियाँ बन कर उपनगर बस गये।

सुनियोजित बनाये गये शहरों में बाजार अलग से बनाये जाते थे। अन्य शहरों में सड़कों के दोनों ओर दुकानें होती थीं। दुकानदार स्वयं इनके ऊपर या पीछे के भाग में रहते थे। अधिकांश शहरों में एक से अधिक बाज़ार होते थे। कई बाजार किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए विशिष्ट रूप से जाने जाते थे। अक्सर बाज़ारों के नाम उन विशिष्ट वस्तुओं का हवाला देते हैं। उदाहरण के लिए, आगरा में लोहा गली (लोहे की वस्तुएं), चीनीटोला (शक्कर का बाज़ार), गल्ला मंडी (अनाज का बाज़ार), दाल मंडी (दाल बाज़ार), साबुन कटरा (साबुन का बाज़ार), नील पाड़ा (नील के लिए); दिल्ली में जौहरी बाज़ार (आभूषणों के लिए), सब्जीमंडी, (सब्जी के लिए), चूड़ीवाला (चूड़ियों का बाज़ार), आदि। दिल्ली में पहाड़गंज, अनाज की थोक मंडी थी।

जिन क्षेत्रों में शहर की जनसंख्या रहती थी वे *मुहल्लों* में बंटे हुए होते थे। अधिकतर मुहल्ले किसी खास जाति या उत्पादक समुदायों के नामों से जाने जाते थे। उदाहरण के लिए, कुंजड़ो मुहल्ला (सब्जी के बेचने वाले), मोचीवाड़ा (जूते बनाने वाले), मुहल्ला ज़रगरान (सुनार), कूचा रंगरेज़ान (कपड़े रंगने वाले), आदि इस प्रकार के नाम लगभग सभी मुगल शहरों में पाये जाते हैं। कभी-कभी यह मुहल्ले उनमें रहने वाले प्रमुख व्यक्तियों, आदि के नाम से भी जाने जाते थे।

शहरों की एक अन्य विशेषता वहां पर *सरायों* का होना था। *सराय* व्यापारियों और यात्रियों के लिए रहने का स्थान थी। छोटे शहर में भी कम से कम एक *सराय* होती थी। दिल्ली, आगरा, पटना, लाहौर और अहमदाबाद जैसे शहरों में बड़ी संख्या में *सरायें* पाई जाती थीं। अधिकांशतः कुलीन, बड़े व्यापारी, शाही घराने की महिलायें तथा राज्य की ओर से इन *सरायों* को बनवाया जाता था। यात्रियों को वहां सामान रखने के भंडार गृह से लेकर अन्य सभी प्रकार की सुविधायें मिलती थीं। *भटियारों* के परिवार *सरायों* के रख-रखाव का कार्य करते थे। *भटियारे सरायों* के देखभाल करने वालों के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। शहर में आने वाले विदेशियों को नगर के प्रशासकों को अपने आने और जाने के विषय में सूचित करना पड़ता था।

सामान्यतः शहरों में किसी भी प्रकार के योजनाबद्ध विकास का अभाव था। प्रमुख मार्गों के अलावा अन्य सड़कें तथा गलियां संकरी और मिट्टी की बनी होती थीं। शहरों के नियमित प्रशासन के लिए एक पृथक विकसित प्रशासनिक व्यवस्था थी।

15.6 नगरीय जनसंख्या की संरचना

शहरों की जनसंख्या एक प्रकार की न होकर मिश्रित प्रकार की थी। समकालीन स्रोतों में हमें शहरों में विभिन्न वर्गों के लोगों के निवास के विषय में जानकारी मिलती है। इनको मोटे तौर पर चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

i) कुलीन और उनके सहयोगी, राज्य के अधिकारी तथा सैनिक;

ii) व्यापारिक और वाणिज्यिक गतिविधियों से संबंधित वर्ग (व्यापारी, *सर्राफ*, दलाल, आदि);

iii) धार्मिक प्रतिष्ठानों से संबंधित वर्ग, संगीतकार, चित्रकार, कवि, वैद्य-हकीम, आदि;

iv) कारीगर, मजदूर और विभिन्न प्रकार के सेवक, आदि।

विभिन्न शहरों में विभिन्न वर्गों के प्रकार, संख्या, आदि उस शहर की प्रकृति पर निर्भर करते थे, अर्थात् वे प्रशासनिक केन्द्र थे अथवा वाणिज्यिक केन्द्र। साम्राज्य के प्रमुख केन्द्र या राजधानी में संभवतः सबसे बड़ा वर्ग सम्राट और कुलीनों के सैनिकों और सेवकों का था। बर्नियर (1658) ने सम्राट शाहजहां के शिविर में लोगों की संख्या लगभग 3-4 लाख आंकी थी।

अन्य प्रशासनिक केन्द्रों की स्थिति भी लगभग यही थी। गवर्नर प्रांतीय उच्च कुलीन तथा अन्य प्रशासनिक अधिकारी सभी के साथ बड़ी संख्या में सैनिक, आश्रित, सेवक, गुलाम और उनके परिवार के सदस्य होते थे।

अधिकांश बड़े शहर व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र होते थे इसलिए इन शहरों में वाणिज्यिक वर्ग महत्वपूर्ण होता था। एक अनुमान के अनुसार अहमदाबाद में केवल हिन्दू व्यापारियों की कुल जातियों और उपजातियों की संख्या लगभग 84 थी। 1640 में पटना में लगभग 600 दलाल थे। समकालीन स्रोतों में लगभग सभी बड़े शहरों में मीलों लम्बे बाजारों का वर्णन मिलता है। पटना जैसे औसत आकार के शहर में परचून की 200 से अधिक दुकानें थी। जोधपुर जैसे शहर में भी महाजनों की 600 दुकानें थीं।

शहरों में रहने वाला अन्य महत्वपूर्ण वर्ग विद्वानों, वैद्यों, हकीमों तथा कला और संगीत से जुड़े लोगों का था। सामान्यतः धार्मिक कार्यो के लिए और दान में दी जाने वाली राजस्व मुक्त भूमि भी शहरों के आसपास दी जाती थी। इसके अतिरिक्त अधिकांश कवि, संगीतकार, चिकित्सक, आदि शहरों में ही रहते थे क्योंकि यहां धन कमाने के साधन थे तथा साथ ही यहीं उन्हें सम्राट और कुलीनों का संरक्षण भी प्राप्त हो जाता था।

व्यापारिक और वाणिज्यिक शहरों में एक बड़ी जनसंख्या, कारीगर, मजदूर और अन्य कार्मिक वर्गों की होती थी। हम इस काल के कारीगर उत्पादों की चर्चा **इकाई 14** में कर चुके हैं। उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं से जुड़े कारीगरों को कई वर्गों में बांटा जा सकता है।

i) ऐसे कारीगर जो स्वयं वस्तुएं बनाते और बेचते थे।

ii) ऐसे कारीगर जो सम्राट या कुलीनों के *कारखानों* या भवन निर्माण गतिविधियों में कार्यरत थे।

iii) कई उत्पादन क्षेत्रों में एक बड़ी संख्या अर्द्धकुशल कारीगर या अकुशल कार्मिकों के रूप में कुशल कारीगरों के सहायक के रूप में कार्य करती थी। जहाज निर्माण, हीरे, नमक और शोरे के खनन् उत्पादन के ऐसे क्षेत्र थे।

iv) घरेलू सेवकों या मजदूरों के रूप में कार्यरत एक बड़ा वर्ग भी शहरों में पाया जाता था।

15.7 नगरीय जनसांख्यिकी

तबकात-ए अकबरी (लगभग 1593) के अनुसार अकबर के काल में लगभग 120 बड़े शहर और 3200 *कस्बे* (छोटे शहर) थे। 17वीं शताब्दी में उद्योग व व्यापार के विकास के साथ यह संख्या भी बढ़ी होगी। निश्चित स्रोतों और अभिलेखों के अभाव में विभिन्न शहरों की ठीक-ठीक जनसंख्या पता करना संभव नहीं है। इरफान हबीब के अनुसार कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत शहरों में निवास करता था।

विभिन्न शहरों के आकार के विषय में कुछ यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांतों से जानकारी मिलती है। इन्होंने कहीं-कहीं तो अपने अनुमान दिये हैं और कहीं भारतीय शहरों की तुलना यूरोपीय शहरों से की है। इस प्रकार की जानकारी केवल कुछ गिने-चुने शहरों के बारे में ही दी गई है।

कुछ मुख्य शहरों के बारे में आकलन निम्नलिखित हैः

शहर	आकलन	जनसंख्या
आगरा	1609	5,00,000
	1629-43	6,66,000
	1666	8,00,000
दिल्ली	1659-66	5,00,000
लाहौर	1581	4,00,000
	1615	7,00,000
अहमदाबाद	1613	1,00,000
		2,00,000
सूरत	1663	1,00,000
	1700	2,00,000
पटना	1631	2,00,000
ढाका	*c.* 1630	2,00,000

स्रोतः तपन रेचौधरी और इरफान हबीब, *कैम्ब्रिज इकानॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), भाग 1, पृ. 171

जनसंख्या के उपरोक्त आकलनों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के उस समय के शहर यूरोपीय शहरों के समकक्ष थे।

15.8 शहरी जीवनः जीवन स्तर

यह रोचक तथ्य है कि हमारे मुगलकालीन स्रोत शहरी जीवन के विषय में काफी जानकारी प्रदान करते हैं।

मध्यकालीन शहरी जीवन स्तर में काफी विषमता दिखाई देती है। जहां एक ओर उच्च वर्गों के लोग शाही तरीके का रहन-सहन अपनाते थे वहीं दूसरी ओर शहरों की गरीब जनता निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करती थी। गोवा में आम जनता के जीवन स्तर के बारे में लिन्शोटन (1580-1590) लिखता है कि 'वे इतने गरीब हैं कि एक पैसे के लिए कोड़े सहने को तैयार हैं, वे इतना कम खाते हैं कि ऐसा लगता है कि वे हवा पर जिन्दा हैं, इसलिए ये सारे लोग आकार में छोटे और इनके हाथ-पांव में कोई जान नहीं है'। डी. लायट भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट करता है। वह कहता है कि 'आम लोगों की स्थिति उन क्षेत्रों में अत्यंत दयनीय है; मजदूरी कम है; मजदूरों को दिन में एक ही बार भोजन प्राप्त हो पाता है; रहने के घर तुच्छ और बिना किसी साज-सामान के हैं; जाड़ों में स्वयं को गर्म रखने के लिए पहनने और ओढने के साधन भी नहीं हैं।'

हालांकि बर्नियर कहता है कि अमीर व्यापारी कोशिश करते थे कि वे दरिद्र दिखें ताकि 'उनसे धन न निचोड़ा जाय'। परन्तु बारबोसा कालीकट के मुस्लिम व्यापारियों के पहनावे और वस्त्रों की काफी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार पेट्रो डेला वेले भी सूरत के व्यापारियों की शान-शौकत की चर्चा करता है। हिन्दू कुलीन भी अपना पहनावा अपने मुस्लिम साथियों की भांति अपनाते थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण मस्तक पर तिलक भी लगाते थे और राजपूत कानों में कुंडल पहनते थे।

निम्न वर्ग के लोग बहुत ही कम वस्त्र पहनते थे। आगरा और लाहौर की आम जनता के विषय में सालबांके लिखता है कि 'साधारण लोग इतने दरिद्र हैं कि उनमें से अधिकांश नग्न रहते हैं।' यूरोपीय यात्रियों ने दक्षिण भारत के विषय में भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। विजयनगर के आम लोगों के विषय में बारबोसा कहता है कि 'इनका पूरा शरीर नग्न रहता है और केवल शरीर का मध्य भाग ढकने के लिए एक कपड़े का प्रयोग करते हैं।' लिन्शोटन (1580-1590) कहता है कि 'गोवा के आम लोग बहुत गरीब हैं और लगभग नग्न रहते हैं।' बाबर कहता है कि 'कृषक और निम्न वर्गों के लोग लगभग नग्न रहते हैं। वह एक प्रकार का लंगोट पहनते हैं जिसे टांगों के बीच से पीठ के पीछे ले जाकर गांठ लगाते हैं। औरतें भी एक प्रकार

का वस्त्र (*लुंग*) पहनती हैं जिसका एक हिस्सा कमर पर बांधती हैं और दूसरा सिर के ऊपर ले जाती है। जाड़ों में पुरूष रूई भरा कोट और इसी प्रकार की टोपी पहनते हैं।' दक्षिण में अधिकांश लोग नंगे पांव रहते थे।

आइन-ए अकबरी तथा उस काल के कुछ यूरोपीय स्रोत (पेल्सर्ट, पेट्रो डेला वेले, आदि) दर्शाते हैं कि शहरी मजदूरों की औसत आय 3.4 रुपये प्रतिमाह थी।

शीरीन मूसवी (1987) ने अपने शोधों के आधार पर दर्शाया है कि अकुशल कार्मिक की वस्तुएँ खरीदने की शक्ति 1867-1871-72 की तुलना में 1595 में कहीं अधिक थी। उनके अनुसार अकबर के काल में एक शहरी कार्मिक 1867 के इसी प्रकार के कार्मिक की तुलना में अधिक गेहूँ, मोटे अनाज, घी और शक्कर, आदि खरीद सकता था। इस प्रकार वह 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अपनी तरह के मजदूर की तुलना में अधिक अच्छा भोजन आदि प्राप्त करता था। अकबर के काल के मजदूर केवल कपड़े खरीदने की क्षमता में काफी पीछे थे। एक साधारण मजदूर की तुलना में एक कुशल कारीगर की वस्तुएं खरीदने की क्षमता 19वीं शताब्दी में और भी अधिक कम हो गई थी। इस प्रकार 1867 की तुलना में लगभग 1600 में शहरी वेतन अधिक थे।

मध्यवर्ग, विशेष कर राजस्व विभाग के अधीनस्थ अधिकारी, छोटे *मनसबदार*, चिकित्सक तथा छोटे व्यापारी, आदि एक अच्छे स्तर का जीवन गुजारते थे। बुद्धिजीवी वर्ग ज्यादातर गरीब था और अधिकांशतः अपने जीवन-यापन के लिए कुछ संरक्षकों पर निर्भर था।

कुलीन तथा अन्य उच्च वर्ग अत्यंत शान-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। हमें विवरण मिलता है कि एक कुलीन के लड़के ने चांदनी चौक (दिल्ली) में एक दिन में मात्र आवश्यक वस्तुओं की एक लाख रुपये की खरीदारी की। मोरलैंड कहता है कि 'संचय करने की जगह खर्च करना ही उस काल की विशेषता थी।' शीरीन मूसवी ने 'शाही घराने' और कुलीनों की उपभोग पद्धति का अध्ययन किया है। उपभोग की पद्धति 'शाही घराने' और अमीरों तथा कुलीनों की जीवन शैली पर प्रकाश डालती है।

खर्च की मद	शाही परिवार (प्रतिशत में)	कुलीन (प्रतिशत में)
हरम (जनानखाना)	18.68	14.25
रसोई	7.28	7.04
वस्त्र	8.93	7.32
भवन (निर्माण)	8.01	6.57
शिविर से संबंधित व्यय	5.53	4.54
बर्तन	7.97	6.54
पशुओं का शिकार	1.41	1.16
पुस्तकें तथा कलाकृतियां	3.60	2.96
आभूषण व रत्न	23.65	19.40
पालतू और शिकारी पशु	6.94	5.69
विविधा	1.33	1.09
नकद अनुदान	6.67	–
पैदल सैनिक	–	8.43
हथियार	–	9.67
बोझा ढोने वाले पशु	–	2.65
प्रदर्शन के लिए रखे जाने वाले पशु	–	2.69

इन आंकड़ों से साफ प्रदर्शित होता है कि मुगल कुलीन लगभग 75 प्रतिशत अपने आराम और विलासिता की वस्तुओं पर व्यय करता था। यह रईसी की जीवन शैली अक्सर उन्हें कंगाल बना देती थी। बर्नियर के अनुसार '... दूसरी ओर अधिकांश अमीर कर्ज में डूबे हुए थे, सम्राट को भेंट

में दिए जाने वाले कीमती उपहार और उनके विस्तृत घर-गृहस्थी के खर्चे उन्हें बर्बाद कर देते थे।' 'इस कारण वे किसानों से अधिक से अधिक अनुचित वसूलियां करते थे।'

किन्तु शिल्प उत्पादन के विकास में कुलीनों ने काफी योगदान दिया। शीरीन मूसवी की गणना के अनुसार कुलीनों के वेतन का लगभग 63-26 प्रतिशत किसी न किसी प्रकार के शिल्प उत्पादन पर खर्च होता था। कुल *जमा* (अनुमानित आय) का लगभग 37-38 प्रतिशत औसत रूप से शिल्प उत्पादन पर खर्च होता था। यह कहा जा सकता है कि शिल्प उत्पादों पर खर्च काफी अधिक था। परन्तु यह उत्पादन व्यापार के उद्देश्य से नहीं अपितु व्यक्तिगत उपभोग के लिए था। इसलिए भारी निवेश के बावजूद यह उत्पादन किसी प्रकार के 'आंतरिक बाजार' (शिल्प उत्पादन के व्यापार के लिए) को जन्म नहीं दे सका।

बोध प्रश्न-3

1) *सराय* पर 50 शब्दों में एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) मध्यकालीन नगरों की संरचना पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) मुगलकालीन शहरी मजदूरों के जीवन स्तर की तुलना 19वीं शताब्दी के शहरी मजदूरों से कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) सही वक्तव्यों पर (✓) सही का और गलत वक्तव्यों पर (×) गलत का चिह्न लगाइएः

i) *भटियारे सरायों* का रखरखाव करते थे। ( )

ii) *तबकात-ए अकबरी* के अनुसार अकबर के काल में 120 बड़े शहर और 3200 *कस्बे* थे। ( )

iii) इरफान हबीब के अनुमान के अनुसार लगभग 12 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती थी। ( )

15.9 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि तुर्कों के आने के बाद उद्योग और व्यापार बढ़ा। हम देखते हैं कि 1200 के बाद सिक्कों के अधिक भंडार मिलते है। इस काल में बहुत से नगरों का उदय हुआ। आपने यह भी पढ़ा कि शहरों में किस प्रकार शिल्प उत्पादन संगठित किया जाता था।

मध्यकाल में शहरी केन्द्र और शहरी जीवन विकसित अवस्था में थे। भारत में नगर, शहर और ग्रामीण क्षेत्रों का एक अच्छा मिश्रण थे। इसका स्पष्ट कारण यह था कि अधिकांश शहर वास्तव में गांव का विस्तार ही थे। शहरी जनसंख्या मिली-जुली प्रकार की थी। जीवन स्तर में भी विषमतायें थीं। जहां एक ओर शाही परिवार और उच्च कुलीन वर्ग विलासिता और वैभव का जीवन व्यतीत करते थे, वहीं दूसरी ओर शहरी गरीब अत्यंत दरिद्रता का जीवन गुजारते थे। लेकिन ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि मुगलकालीन शहरों के मजदूर और कार्मिक वर्ग की खाद्य पदार्थ खरीदने

की क्षमता 19वीं शताब्दी के अपने समकक्ष वर्गों की तुलना में, अधिक थी। इस मानदंड के आधार पर मुगलकालीन शहरी कार्मिक वर्ग 19वीं शताब्दी के ऐसे वर्ग की तुलना में कुछ बेहतर दिखाई देता है।

15.10 शब्दावली

घरेलू उत्पादन पद्धति (Domestic production) — उत्पादन की वह प्रक्रिया जिसमें कारीगर अपने औजारों और कच्चे माल की सहायता से अपने घरों में उत्पादन करते थे

***दादनी* (Putting-out system)** — उत्पादन का वह तरीका जिसमें कारीगर के औजार तो अपने होते थे परन्तु वस्तुएँ बनाने के लिए उन्हें कच्चा माल अथवा धन व्यापारियों द्वारा प्राप्त होते थे

15.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 15.2, 15.3
2) a) ✓ b) × c) ✓

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 15.4
2) देखें भाग 15.4

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 15.5
2) देखें भाग 15.6
3) देखें भाग 15.8
4) i)✓ ii) ✓ iii) ×

15.12 संदर्भ ग्रंथ

बंगा, इंदू, (2005) *द सिटी इन इंडियन हिस्ट्री* (नई दिल्लीः मनोहर).

मूसवी, शीरीन, (1987) *इकॉनामी ऑफ द मुगल एम्पायर c.1600* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

रेचौधरी, तपन और इरफान हबीब, (1982) *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* भाग 1 (दिल्लीः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

शर्मा, योगेश एवं पायस मालेकंदाथिल, (2014) (संपा.) *सिटीज़ इन मिडिवल इंडिया* (नई दिल्लीः प्राइमस बुक्स).

सिद्दीकी, इक्तदार हुसैन, (2019) *दिल्ली सल्तनतः अर्बेनाइज़ेशन एंड सोशल चेंज* (नई दिल्लीः वीवा बुक्स).

15.13 शैक्षणिक वीडियो

अर्बन इकॉनॉमी एंड टेक्नालॉजी ड्यूरिंग द दिल्ली सल्तनत
https://www.youtube.com/watch?v=YDgmSS54u-c

अर्बन इकॉनॉमी इन मुगल इंडिया
https://www.youtube.com/watch?v=FOZaH2L6b0I